हिन्दी
त्रैमासिक

रामकृष्ण
मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्तूबर – नवम्बर – दिसम्बर

★ १९७५ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क– १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

फोन : ४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द

कैलिफोर्निया (अमेरिका) में, सन् १९०० ई०

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(३१ वीं तालिका)

९८९. श्री सर्वार्थ कुमार शर्मा, करेलीगंज (नरसिंहपुर)।
९९०. डा० प्रभुलाल मिश्रा, अमरावती।
९९१. श्री नरसिंह प्रसाद वघेल, सेलूद (दुर्ग)।
९९२. श्री शिवराजवली सिंह, पतारी (फतेहपुर)।
९९३. श्री विजय सिंह परिहार, चारामा (बस्तर)।
९९४. श्री दुष्यन्त लाल तिवारी, सिकोला वार्ड, दुर्ग।
९९५. श्री चंडी प्रसाद शर्मा, कंकाली पारा, रायपुर।
९९६. प्राचार्या, शा.कन्या उ.मा.शाला, नयापारा (राजिम)
९९७. श्री आर० के० साव, तेलीबांधा, रायपुर।
९९८. श्री पुरुषोत्तम राव गरड़, राजिम (रायपुर)।
९९९. श्री संजय कुमार शर्मा, कोंडागाँव (बस्तर)।
१०००. श्री शिवेन्द्र नाथ झा, पुरानी बस्ती, रायपुर।
१००१. श्री कमलेश कुमार शर्मा, कोटा (रायपुर)।
१००२. सुरेन्द्र कुमार चन्द्राकर, फरसगाँव (बस्तर)।

ग्राहकों को विशेष सूचना

१. 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अंक के साथ जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है, वे अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ५) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो०—विवेकानन्द आश्रम, रायपुर ४९२-००१ (म. प्र.) के पते पर भेज दें। ग्राहकों की सुविधा के लिए साथ में मनीआर्डर फार्म संलग्न है।

२. यदि चन्दा हमें १५ दिसम्बर, १९७५ तक नहीं प्राप्त होगा, तो 'विवेक-ज्योति' के चौदहवें वर्ष का प्रथम अंक सम्बन्धित व्यक्तियों को व्ही. पी. से भेज दिया जायगा। व्ही. पी. ६)४५ की होगी। अनुरोध है कि व्ही. पी. कृपा करके छुड़ा ली जाय, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ ही हानि सहनी पड़ जायगी।

३. जिन्हें अब ग्राहक नहीं रहना है, वे कृपया शीघ्र हमें सूचित कर दें, जिससे हम व्यर्थ व्ही. पी. न भेजें।

४. 'विवेक-ज्योति' त्रैमासिक पत्रिका ग्राहकों को जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में निश्चित रूप से डाक द्वारा भेज दी जाती है। जिन्हें पत्रिका न मिले, वे न मिलने की शिकायत कृपया सम्बन्धित महीने के अन्त तक हमारे पास अवश्य भेज दें। तभी उस पर कार्यवाही सम्भव हो सकेगी।

५. 'विवेक-ज्योति' के ग्राहकों के लिए रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रकाशनों पर ५% की छूट दी जायगी।

६. पत्र लिखते या मनीआर्डर भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या का उल्लेख अवश्य करें।

व्यवस्थापक
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १३] अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर ★ १९७५ ★ [अंक ४

नित्य आनन्द की अनुभूति किसे ?

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः
समाहितस्यैव दृढ़प्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति-
र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

—जिसे प्रबल वैराग्य है, वही चित्त की समाहित-अवस्था को प्राप्त करता है। जिसे ऐसी समाधि प्राप्त हो गयी, उसी को दृढ़ बोध होता है। जिसे सुदृढ़ बोध हो गया, वही संसार-बन्धन से छूटता है। जो ससार-बन्धन से मुक्त हो गया, वही नित्य आनन्द की अनुभूति करता है।

—विवेकचूड़ामणि, ३७५

समलोष्टाश्मकांचन

किसी गाँव में एक दम्पति रहता था। पति-पत्नी दोनों बड़े धार्मिक और निष्ठावान साधक थे। उनका अधिकांश समय दीन-दुखियों की सेवा, इष्ट-मंत्र का जाप और शास्त्र-चर्चा में बीतता। पति के समान पत्नी भी विचारशील और विदुषी थी। विवेक के साथ ही वैराग्य भी दोनों में कूट-कूटकर भरा हुआ था। एक दिन पति ने पत्नी के समक्ष अपनी संन्यास लेकर गृहत्यागी बनने की कामना प्रकट की। पत्नी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की और स्वयं के भी संन्यास का प्रस्ताव पति के समक्ष रखा। दोनों को अपनी इस समान इच्छा पर परम सन्तोष और आनन्द का अनुभव हुआ और एक शुभ पर्व पर दोनों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर घर-बार छोड़ दिया।

दोनों ने तय किया कि देश के विभिन्न तीर्थों के दर्शन किये जायँ और वे तीर्थाटन पर निकल पड़े। एक दिन जब वे रास्ते से चले जा रहे थे, तो पति को सामने एक हीरा का टुकड़ा पड़ा दिखायी दिया। पति महोदय कुछ आगे आगे चल रहे थे। उन्हें लगा कि हीरे को देख कहीं पत्नी के मन में लालच न आ जाय और उसका वैराग्य डाँवाँडोल न हो जाय, इसलिए वे जल्दी जल्दी जमीन कुरेदकर उसमें हीरे को छिपाने का प्रयत्न

करने लगे। इतने में पत्नी समीप आ गयी और पति से उसने इस प्रकार जमीन कुरेदने का कारण पूछा। पति उत्तर देने में हीला-हवाला करने लगे। पत्नी को अपनें पति के आचरण पर अचम्भा हुआ। उसने पुनः उनके इस विचित्र व्यवहार का कारण जानना चाहा। पर इस वार भी पति महोदय का उत्तर सन्तोषप्रद नहीं था। तव पत्नी अपने आपको न रोक सकी और वह वहाँ की मिट्टी हटाने लगी, जहाँ पति महोदय ने कुछ दवा दिया था।

पत्नी ने देखा कि वहाँ एक हीरे का टुकड़ा चमक रहा है। वह एकटक अपने पति के चेहरे की ओर देखने लगी और उनके विचार पढ़ने की कोशिश करने लगी। पति के मन की वात भाँपकर उसने कहा, "यदि हीरे और धूल में अव भी तुम्हारी भेद-बुद्धि वनी हुई है, तो फिर संसार तुमने छोड़ा ही क्यों ?"

संसारत्यागी संन्यासी के लिए कहा गया है कि उसे 'समलोष्टाश्मकांचन' होना चाहिए—मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण के प्रति उसे समबुद्धि रखनी चाहिए। भेद-बुद्धि का जन्म अविवेक से होता है और अविवेक वैराग्य को उड़ा देता है।

●

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
१८९४

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारा पत्र अभी मिला।... मैंने तुम्हें अपने भाषण के जो अंश भेजे थे, उन्हें प्रकाशित करने के लिए कहकर मैंने भूल की। यह मेरी भयंकर भूल थी। यह मेरी एक क्षण की दुर्बलता का परिणाम था। इस देश में दो-तीन वर्ष तक व्याख्यान देने से धन-संग्रह किया जा सकता है। मैंने कुछ यत्न किया है, और यद्यपि यहाँ जनसाधारण में मेरे काम का बहुत सम्मान है, फिर भी मुझे यह काम अत्यन्त अरुचिकर और नीतिभ्रष्ट करनेवाला प्रतीत होता है। इसलिए मेरे बच्चे, मैंने यह निश्चय किया है कि इस ग्रीष्म ऋतु में ही यूरोप होते हुए भारत वापस लौट जाऊँगा। इसके खर्च के लिए मेरे पास यथेष्ट धन है—'उसकी इच्छा पूर्ण हो।'

भारतीय समाचारपत्रों के विषय में जो तुम कहते हो, वह मैंने पढ़ा तथा उसकी आलोचना भी। उनका यह छिद्रान्वेषण स्वाभाविक ही है। प्रत्येक दासजाति का मुख्य दोष ईर्ष्या होता है। ईर्ष्या और मेल का अभाव ही पराधीनता उत्पन्न करता है और उसे स्थायी बनाता है। इस कथन की सच्चाई तुम तब तक नहीं समझ सकते हो, जब तक तुम भारत से बाहर न जाओ। पाश्चात्यवासियों की सफलता का रहस्य यही सम्मिलन-शक्ति है, और उसका

आधार है परस्पर विश्वास और गुणग्राहकता। जितना ही कोई राष्ट्र निर्बल या कायर होगा, उतना ही उसमें यह अवगुण अधिक प्रकट होगा।... परन्तु मेरे बच्चे, तुम्हें पराधीन जाति से कोई आशा न रखनी चाहिए। हालाँकि मामला निराशाजनक सा ही है, फिर भी मैं इसे तुम सभी के समक्ष स्पष्ट रूप से कहता हूँ। सदाचार सम्बन्धी जिनकी उच्च अभिलाषा मर चुकी है, भविष्य की उन्नति के लिए जो बिल्कुल चेष्टा नहीं करते और भलाई करनेवाले को धर दबाने में जो हमेशा तत्पर हैं, ऐसे मृत जड़पिण्डों के भीतर क्या तुम प्राण-संचार कर सकते हो? क्या तुम उस वैद्य की जगह ले सकते हो, जो लातें मारते हुए उद्दण्ड बच्चे के गले में दवाई डालने की कोशिश करता हो?...

मैं फिर तुम्हें याद दिलाता हूँ, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'—'तुम्हें कर्म का अधिकार है, फल का नहीं।' चट्टान की तरह दृढ़ रहो। सत्य की हमेशा जय होती है। श्रीरामकृष्ण की सन्तान निष्कपट एवं सत्य-निष्ठ रहे, शेष सब कुछ ठीक हो जायगा। कदाचित् हम लोग उसका फल देखने के लिए जीवित न रहें; परन्तु जैसे इस समय हम जीवित हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि देर या सबेर इसका फल अवश्य प्रकट होगा। भारत को नव विद्युत्-शक्ति की आवश्यकता है, जो जातीय धमनी में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न कर सके। यह काम हमेशा धीरे धीरे हुआ है और होगा। निःस्वार्थ भाव से काम करने में

सन्तुष्ट रहो और अपने प्रति सदा सच्चे रहो। पूर्ण रूप से शुद्ध, दृढ़ और निष्कपट रहो, शेष सब कुछ ठीक हो जायगा ! अगर तुमने श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में कोई विशेषता देखी है, तो वह यह है कि वे सम्पूर्णतया निष्कपट हैं। यदि मैं ऐसे सौ आदमी भी भारत में छोड़ जा सकूँ, तो मेरा काम पूरा हो जायगा और मैं शान्ति से मर सकूँगा। इसे केवल परमात्मा ही जानता है। मूर्ख लोगों को व्यर्थ बकने दो। हम न तो सहायता ढूँढ़ते हैं, न उसे अस्वीकार करते हैं--हम तो उस परम पुरुष के दास हैं। क्षुद्र मनुष्यों के तुच्छ यत्न हमारी दृष्टि में न आने चाहिए। आगे बढ़ो ! सैकड़ों युगों के उद्यम से चरित्र का गठन होता है। निराश न होओ। सत्य के एक शब्द का भी लोप नहीं हो सकता। वह दीर्घ काल तक कूड़े के नीचे भले ही दबा पड़ा रहे, परन्तु देर या सबेर वह प्रकट होगा ही। सत्य अनश्वर है, पुण्य अनश्वर है, पवित्रता अनश्वर है। मुझे सच्चे मनुष्य की आवश्यकता है, मुझे शंख-ढपोर चेले नहीं चाहिए। मेरे बच्चे, दृढ़ रहो। कोई आकर तुम्हारी सहायता करेगा, इसका भरोसा न करो। सब प्रकार की मानव-सहायता की अपेक्षा ईश्वर क्या अनन्तगुना शक्तिमान नहीं है ? पवित्र बनो, ईश्वर पर विश्वास रखो, हमेशा उस पर निर्भर रहो--फिर तुम्हारा सब ठीक हो जायगा--कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ न कर सकेगा। अगले पत्र में और भी विस्तारपूर्वक लिखूँगा।

इस ग्रीष्म ऋतु में यूरोप जाने की सोच रहा हूँ।

शीत ऋतु के प्रारम्भ में भारत वापस लौटूँगा । बम्बई में उतरकर शायद राजपूताना जाऊँ, वहाँ से फिर कलकत्ता, कलकत्ते से फिर जहाज द्वारा मद्रास आऊँगा । आओ, हम सब प्रार्थना करें, 'हे कृपामयी ज्योति, पथ-प्रदर्शन करो'—और अन्धकार में एक किरण दिखायी देगी, पथ-प्रदर्शक कोई हाथ आगे बढ़ आयेगा । मैं हमेशा तुम्हारे लिए प्रार्थना करता हूँ, तुम मेरे लिए प्रार्थना करो । जो दारिद्र्य, पुरोहित-प्रपंच तथा प्रबलों के अत्याचारों से पीड़ित हैं, भारत के उन करोड़ों पददलितों के लिए प्रत्येक आदमी दिन-रात प्रार्थना करे । सर्वदा उनके लिए प्रार्थना करे । मैं धनवान और उच्च श्रेणी की अपेक्षा इन पीड़ितों को ही धर्म का उपदेश देना पसन्द करता हूँ । मैं न कोई तत्त्व-जिज्ञासु हूँ, न दार्शनिक हूँ और न सिद्ध पुरुष हूँ । मैं निर्धन हूँ और निर्धनों से प्रेम करता हूँ । इस देश में जिन्हें गरीब कहा जाता है, उन्हें देखता हूँ—भारत के गरीबों की तुलना में इनकी अवस्था अच्छी होने पर भी यहाँ कितने लोग उनसे सहानुभूति रखते हैं ! भारत में और यहाँ महान् अन्तर है। बीस करोड़ नर-नारी जो सदा गरीबी और मूर्खता के दलदल में फँसे हैं, उनके लिए किसका हृदय रोता है ? उनके उद्धार का क्या उपाय है ? कौन उनके दुःख में दुःखी है ? वे अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ सकते, उन्हें शिक्षा नहीं प्राप्त होती—उन्हें कौन प्रकाश देगा, कौन उन्हें द्वार द्वार शिक्षा देने के लिए घूमेगा ? ये ही तुम्हारे

ईश्वर हैं, ये ही तुम्हारे इष्ट बने। निरन्तर इन्हीं के लिए सोचो, इन्हीं के लिए काम करो, इन्हीं के लिए निरन्तर प्रार्थना करो—प्रभु तुम्हें मार्ग दिखायेगा। उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत होता है, अन्यथा वह दुरात्मा है। आओ, हम लोग अपनी इच्छा-शक्ति को ऐक्य भाव से उनकी भलाई के लिए निरन्तर प्रार्थना में लगायें। हम अनजान, बिना सहानुभूति के, बिना मातमपुर्सी के, बिना सफल हुए मर जायँगे, परन्तु हमारा एक भी विचार नष्ट नहीं होगा। वह कभी न कभी फल लायेगा। मेरा हृदय इतना भाव-गद्गद् हो गया है कि मैं उसे व्यक्त नहीं कर सकता; तुम्हें यह विदित है, तुम उसकी कल्पना कर सकते हो। जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता! वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और अब ठाठ-बाट से अकड़कर चलते हैं, यदि उन बीस करोड़ देशवासियों के लिए जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं, कुछ नहीं करते, तो वे घृणा के पात्र हैं। मेरे भाइयो, हम लोग गरीब हैं, नगण्य हैं, किन्तु हम जैसे गरीब लोग ही हमेशा उस परम पुरुष के यन्त्र बने हैं। परमात्मा तुम सभी का कल्याण करे।

सस्नेह,

विवेकानन्द

श्रीमाँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(स्वामी सारदेशानन्द रामकृष्ण मठ के वरिष्ठ संन्यासी हैं। इन्हें श्रीमाँ के निकट सान्निध्य में आने, उनकी कृपा पाने और उनकी सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनके श्रीमाँ सम्बन्धी निजी संस्मरण 'उद्बोधन' बँगला मासिक में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए हैं, जहाँ से प्रस्तुत लेख हिन्दी पाठकों के लाभार्थ साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। —सं०)

जननीं सारदां देवीं रामकृष्णं जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

माँ,

प्राणों की इच्छा और मन की साध से लिखित तुम्हारे 'सुख-संस्मरण' की मूल प्रति दूसरे के हाथ में चली गयी है। एक मित्र को पढ़ने के लिए देकर अन्यत्र चला गया था। कुछ वर्ष खोज-खबर नहीं ली और जब लौटा, तो वह मिली नहीं। इसके लिए मित्र तो दुखित हुए, पर मेरे मन पर विशेष चोट नहीं लगी। क्यों? तुम इच्छामयी तारा जो हो, तुम्हारा ही तो सब खेल है! आयु की वृद्धि के साथ स्मरणशक्ति क्षीण हो चली है, मानसपटल म्लान होता जा रहा है। अब पूर्व की भाँति तुम्हारी स्नेहमयी पुकार प्राणों में चेतना का संचार नहीं कर पाती, तुम्हारी करुणा की छवि हृदयपटल पर अंकित नहीं हो पाती। भय हुआ कि कहीं स्मरणशक्ति और भी क्षीण और म्लान हो गयी, तो एकदम दिशाहारा न हो जाऊँ, इसलिए कमजोर स्मरणशक्ति के बल पर

ही संक्षेप में लिखने की इच्छा की। मूल प्रति मेरी स्वयं की देखी और सुनी घटनाओं से युक्त थी। अबकी कई स्थानों से संग्रहित कर तुम्हारी मानवी लीला का, घटना के आदि-मध्य-अन्त का नाममात्र उल्लेख करते हुए, सर्वांग चित्र अंकित करने का ही प्रयास किया है। दूसरों के लिए हास्यास्पद होने पर भी सन्तान का उद्यम माता-पिता के लिए स्नेह की वस्तु ही हुआ करता है।

श्रीमाँ की जन्मतिथि——बृहस्पतिवार, कृष्णा सप्तमी, पौष मास, २२ दिसम्बर १८५३, रात्रि २ दण्ड ९ पल, उत्तरभाद्र नक्षत्र। विवाह——मई १८५९, वैशाख के अन्त-अन्त में। श्रीठाकुर ने उनकी त्रिपुरसुन्दरी देवी षोड़शी महाविद्या के रूप में पूजा की थी——सम्भवतः ५ जून १८७२ को, ज्येष्ठ महीना, अमावस्या, फलहारिणी कालीपूजा की रात्रि को।

लीला-संवरण——२१ जुलाई, १९२०।

श्रीमाँ ने बाल्यावस्था, कैशोर्य और यौवन का प्रारम्भ जयरामबाटी में पिता के घर में ही बिताया। विवाह के बाद कभी कभी थोड़े दिनों के लिए ही उनका अपनी ससुराल कामारपुकुर में आना-जाना हुआ था। बाद में यौवन प्राप्त होने पर उन्होंने दक्षिणेश्वर गमन किया था और श्रीठाकुर के लीला-संवरण तक उन्हीं के साथ दक्षिणेश्वर में रही थीं। बीच बीच में वे कामारपुकुर-जयरामबाटी आना-जाना करती रहतीं। ठाकुर की बीमारी के समय वे श्यामपुकुर और काशीपुर में अत्यन्त

असुविधाओं के बीच रहते हुए भी पति-सेवा में लगी रहतीं। ठाकुर की महासमाधि के बाद वे देवघर और काशी के दर्शन करती हुई वृन्दावन गयीं और वहाँ कालाबाबू के कुज में लगभग एक वर्ष रहीं। उस समय उन्होंने पैदल व्रज-परिक्रमा की थी और लीला-स्थानों के दर्शन किये थे। तब उन्होंने कठोर तपश्चर्या भी की थी। वहाँ से वे हरिद्वार और हृषीकेश के दर्शन करने भी गयी थीं। साल भर वाद जयपुर, पुष्कर और प्रयाग का तीर्थाटन कर वे वापस लौट कामारपुकुर में रही थीं। बाद में कभी कलकत्ता में, तो कभी कभी कामारपुकुर में रहती थीं। अन्त अन्त में तो वे उद्बोधन और जयरामवाटी में ही रही थीं। भक्तप्रवर श्रीयुत बलराम वाबू के पुत्र राम बाबू की भक्तिपूर्ण प्रार्थना पर वे वायु-परिवर्तन के लिए कुछ दिन कोठार और कैलवार में जाकर रही थीं। स्वामी रामकृष्णानन्द के भक्तिपूर्ण आग्रह पर वे दक्षिण भारत के भ्रमण पर गयी थीं और रामेश्वर, मीनाक्षी एवं गोदावरी के दर्शन किये थे। तब मद्रास और बँगलौर में रहकर उन्होंने अनेक भक्तों की मनोकामना पूर्ण की थी। दक्षिण की ओर जाने से पूर्व कुछ दिन पुरी में वास करते हुए जगन्नाथजी के दर्शन कर उन्होंने परम आनन्द का अनुभव किया था।

नहीं चाहता चतुर्वर्ग मैं
स्वर्ग और अपवर्ग नहीं।
मन की साध सुनो अम्बे तुम
मेरी तुमसे विनय यही।

सोकर गोद तुम्हारी जननी
सदा निहारूँ तव आनन ।
पीऊँ अमृत स्नेह-स्तन्य का
रात्रि-दिवस है यही रटन ॥

सारदा—माता और कन्या

परमाराध्या श्रीमाँ सारदा देवी के जीवन पर जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन सबमें उनकी उस अद्भुत मानवी लीला के अपूर्व और अतीव हृदयग्राही दृश्य हैं सही, पर ऐसा लगता है कि उनके चरित्र का माधुर्य——विशेषकर 'एक ही आधार में माता और कन्या' का पक्ष——सम्यक् रूप से परिस्फुटित नहीं किया जा सका है, भले ही 'श्रीश्रीमायेर कथा' और उनके जीवन-चरित्र में इसकी कुछ झलकियाँ यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं। श्रीठाकुर का वह बालकभाव, उनकी वह परमहंस की अवस्था, जिसमें वे शिशु की भाँति दिगम्बर हो पहनने का कपड़ा बगल में दबाकर टहल रहे हैं, सबने देखी और सुनी है, किन्तु उस अत्यन्त लज्जाशीला कुलवधू, रत्नप्रसविनी चन्द्रमणि देवी की लाड़ली पुत्रवधू, जिसके सम्बन्ध में दक्षिणेश्वर काली मन्दिर के खजांची ने विस्मित होकर कहा था, 'सुना तो है कि वे यहाँ हैं, पर कभी देखा नहीं!'——ऐसी असूर्यम्पश्या देवी का इन नेत्रों से दर्शन अनेक पुण्यों के फल से, उन्हीं की कृपा से अत्यन्त बिरले सौभाग्यवान जनों को ही हुआ है इसमें सन्देह नहीं। उन्हीं की कृपा प्राप्त एक सन्तान, घाटाल के वकील श्रद्धेय श्री शिवनारायण बन्द्योपाध्याय

ने जयरामवाटी में पूज्य काली मामा* के बैठकखाने के बरामदे में बैठकर हम लोगों से आवेग-भरे कण्ठ से कहा था, "श्रीठाकुर के लीला-संवरण के कुछ ही समय पश्चात् मेरा उनकी सन्तानों से परिचय हुआ और मैंने बराहनगर-आलमबाजार मठ में आना-जाना शुरू किया। उनका स्नेह-प्यार मुझे मिला और उनकी विशेष कृपा से मुझे श्रीमाँ के दर्शन करने और उनके चरण छूने का भी मौका लगा। पर अपने समूचे शरीर को कपड़े से ढकी देवी के पैर के अँगूठे के नख को छोड़ और कुछ भी देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। एक बार महाराज लोगों (श्रीरामकृष्ण देव के संन्यासी शिष्यों) के साथ हावड़ा स्टेशन गया था—श्रीमाँ को गाड़ी में चढ़ाने के लिए। वे देश (कामारपुकुर-जयरामवाटी) जा रही थीं। गाड़ी के आने में विलम्ब देख वे वेटिंग रूम में बैठकर श्रीठाकुर की पूजा कर रही थीं। अचानक घटनाचक्र से दरवाजा कुछ खुल गया और मैं बालिका के समान पूजा के आसन पर बैठी हुई मातृमूर्ति के दर्शन कर विमुग्ध हो गया। इसके बाद और एक बार महाराज लोगों के साथ मैं कामारपुकुर आया। श्रीमाँ भी तब वहीं थीं। हम लोग बरामदे में बैठ प्रसाद पा रहे थे। भक्तशिरोमणि श्री गिरीशचन्द्र घोष महाशय भी बैठे हुए थे। माँ घर के भीतर बैठ दरवाजे की आड़ से सन्तानों का भोजन करना देख रही थीं। बातचीत करते करते हम सब लोग आनन्द-

---

* श्रीमाँ के छोटे भाई।

पूर्वक भोजन कर रहे थे कि हठात् मेरी दृष्टि घर के भीतर गयी। मैं दरवाजे के सामने ही बैठा था। माँ की मूर्ति सामने देख मैं विस्मित और पुलकित हो उठा और उधर ही निहारता रहा। अचानक गिरीश बाबू का ऊँचा गला सुनायी पड़ा, 'देखते हो, बम्हन की करतूत! किधर देख रहा है!!' होश आया, सिर झुका लिया, फिर से आँखें उठाकर उधर न देख सका; किन्तु भाई, माँ की वह स्नेहमयी मूर्ति चिरकाल के लिए अंकित हो गयी है। उसके बहुत समय बाद यहाँ पर माँ को पा, उनसे वार्तालाप कर और उनके हाथ से प्रसाद पाकर, खाकर, स्नेह-ममता का आस्वादन कर मेरे मन-प्राण शीतल हो गये हैं, मैं भरपूर हो गया हूँ। जयरामवाटी में ही माँ को मैंने ठीक अपनी माँ के समान पाया है।"

छुटपन की बात याद आती है। मैं अपनी माँ के साथ नौका में ननिहाल गया। नौका से उतरकर मामा के घर में प्रवेश करते समय माँ ने सिर का घूँघट खोल लिया और सिर खुला रख खुले गले से सबके साथ बातचीत करने लगीं। मैं विस्मित हो उनके चेहरे की ओर देखने लगा। मैंने माँ को घर में, कमरे के भीतर भी, कभी-कभार सिर का पल्ला सरक जाने से उसे तुरन्त खींचकर ठीक करते देखा है और बातचीत में गले का स्वर ऐसा कि कोई सुन भी पायेगा या नहीं! किसी कारणवश पड़ोसी के घर जाना पड़ा, तो पल्ला खिंचकर छाती तक तो आयेगा ही, साथ में कोई संगी भी रहेगा।

गले की आवाज ऐसी कि कोई सुन नहीं पायेगा; कोई बात कहनी हो, तो कान के पास मुँह ले जाकर एकदम धीमे स्वर में! इसीलिए मैं यह नया दृश्य देख अवाक हो माँ के चेहरे की तरफ ताकता रहता और मौका पाकर सिर का पल्ला खींचकर उन्हें घूँघट पहना देता। मौसियाँ हँसतीं। माँ हँसकर मुझे छाती से लगाकर कहतीं, 'मेरी ससुराल का है न, घूँघट खुला नहीं देख सकता!" सच-मुच माँ को खुले घूँघट में देख मुझे कैसा कैसा लगता, प्रतीत होता माँ मानो एक छोटी लड़की हैं! इसके बाद देखा कि जीजी भी ससुराल से पिता के घर आते ही घूँघट खोल लेती है, अड़ोस-पड़ोस में आती-जाती है और सबसे हम भाइयों के समान ही निःसंकोच होकर बातचीत करती है। तव धीरे धीरे समझा कि पिता के यहाँ लड़कियाँ बहू नहीं हैं——उनमें कन्याभाव ही हमेशा विद्यमान रहता है।

रत्नप्रसविनी नानी श्यामासुन्दरी की दुलारी कन्या 'सारू', 'सारि', 'सारदा' जयरामवाटी में पिता के घर सदैव कन्या की तरह ही रहना पसन्द करतीं। इसीलिए भक्तगण जब ननिहाल आते, तो श्रीमाँ के कमनीय बालिकाभाव और निःसंकोच व्यवहार को देख विस्मित और मुग्ध हो जाते। अखिल-ब्रह्माण्ड-भाण्ड को उदर में रखनेवाली इस जगज्जननी की कैसी विचित्र लीलाएँ इस नरलोक ने देखी हैं। सरल ग्राम्यवाला दरिद्र की पर्ण-कुटी को अपने स्नेह-चन्द्रमा की स्निग्ध चांदनी से आलो-कित किये हुए है। धनी-निर्धन, पण्डित-गँवार, बाल-वृद्ध,

स्त्री-पुरुष जो भी वहाँ आता है, वह इस स्नेह-किरण से नहाकर सोचता है—कौन है यह बालिकारूपिणी ? देवी है या मानवी ? माता है या कन्या ?

जिसकी स्नेह-माधुरी प्राणों को छका देती है, वह है माता और पुलकित हृदय की स्नेहधारा जिसकी ओर दौड़ती है, वह है कन्या। जयरामवाटी में वरिष्ठ भक्तों के विशुद्ध अन्तःकरण में इन दो भावों का ज्वार-भाटा खेला करता। माँ जगदम्बे ! इस कठोर ऊसर पृथ्वीरूपी मरुस्थल की हरितभूमि मानववक्ष में यदि तुम स्नेह की मन्दाकिनी बहाये न रखो, तो तुम्हारी साध का यह खेल का घर सूखकर नष्ट हो जायगा। सम्भवतः इसीलिए तुम 'माता' होकर भी 'कन्या' होकर आयी हो, माँ ! लीलामयी ! नित्य नवीन लीला करती हो ! अनादि खेल का घर अक्षय बने।

'श्रीश्रीमायेर कथा' नामक ग्रन्थ की प्रमुख और प्रथम लेखिका परम सौभाग्यवती श्रीमती सरयू बाला श्रीमाँ का असीम स्नेह और कृपा पाकर धन्य हुई थीं। अपनी अमूल्य दैनन्दिनी में उन्होंने अपनी बहिन के यहाँ श्रीमाँ के शुभ पदार्पण का वर्णन करते हुए अन्त में लिखा था—माँ उन लोगों के सुन्दर सुसज्जित मकान में गयीं। गृहवासियों द्वारा आयोजित सेवा-परिचर्या यद्यपि साधारण थी, तथापि उन्होंने परम सन्तोष के साथ वह ग्रहण कर सबको पुलकित और कृतार्थ कर दिया। घर के बगीचे में पुष्पों की मनोहारी शोभा को देख उनका मन विशेष प्रफुल्लित हुआ और वे

एक बालिका के समान अपने मन के आनन्द को प्रकट करने लगीं। भक्तिमान गृहस्वामी और भक्तिमती गृहस्वामिनी के इष्टदेवता ने उस दिन उनके प्रति असीम करुणा से पूर्ण हो, बालिकाभाव से भावित हो उनके घर को आलोकित और हृदय को उद्भासित किया था तथा स्नेह-प्रेम की मन्दाकिनी बहायी थी। इसमें सन्देह नहीं कि उन लोगों का तप्त हृदय सुशीतल हुआ था और नरजन्म सार्थक। उस वर्णन को पढ़कर हमारा तृषार्त चित्त गा उठा था–'गौरी मेरी आयी थी!' बाद में मुद्रित ग्रन्थ में उस अपूर्व बाल्यभाव का कुछ चित्रण छोड़ दिया गया।

श्रीमाँ की जन्मशताब्दी मनाने के बाद से उनके प्रति जनसाधारण के हृदय का आकर्षण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। नाना ग्रन्थों, चित्रों, संगीत और अभिनय में लोगों के हृदय की मातृभक्ति का असीम उच्छ्वास देख ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् श्रीरामकृष्ण देव ने ईश्वर की आराधना के लिए युग के अनुकूल जिस मातृभाव का प्रचार किया था और जिसके लिए जगज्जननी के सौन्दर्य, माधुर्य और कारुण्य का परिपूर्ण प्रकाश एवं त्रिपुरसुन्दरी की ललिता-षोड़शी का आविर्भाव श्रीसारदा-मूर्ति में में हुआ था, वह लोगों के लिए अब अजाना नहीं रहा। उन लोगों ने अपनी माता और कन्या को पहचान लिया है—अब वे प्राणों की प्यास बुझाकर स्नेह-वात्सल्य का रसामृत चखने और चखाने के लिए अधीर हैं और

सुकोमल चरणों में अपने हृदय को अर्घ्यरूप में निवेदित करने को व्यग्र हैं। इसीलिए लगता है, माँ, तुम्हें अपनी इस चपल सन्तान की वाचालता अब एकदम उबानेवाली नहीं लगेगी। मातृभाव से भगवान् की उपासना और साधना के सम्बन्ध में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का जो निर्देश है, उसे जगत् के निवासी जानना चाहते हैं।

दूर से आनेवाले भक्तों के लिए तब माँ के घर जयरामवाटी पहुँचना कितना दुष्कर कार्य था ! तभी तो रास्ता चलकर आयी थकी-माँदी पूजनीया योगेन-माँ ने जयरामवाटी में पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) को सम्बोधित करके कहा था, 'अजी, यहाँ आना तो लोगों के लिए गया-काशी जाने की अपेक्षा भी कठिन है !' महाराज ने भी तत्क्षण गम्भीर स्वर में उत्तर दिया था, 'यह क्या गया-काशी से छोटा तीर्थ है ?' सुदूर स्थानों से आनेवाले भक्तगण मैदान के रास्ते से अधीर कदमों से गिरते-पड़ते चले आ रहे हैं। रास्ते में जो भी मिलता है, उससे बस एक ही प्रश्न--जयरामवाटी किधर है ? माँ का घर कहाँ पर है ? पहले तो गाँव के लोग इस प्रश्न से चकित हो जाते, पर धीरे धीरे वे यह सुनने के आदी हो गये और 'माँ का घर' एवं 'माँ की भक्त सन्तान' ये शब्द इस अंचल के ग्रामवासियों के लिए सुपरिचित हो गये। यही नहीं, यह जानकर कि ये भक्त शिक्षित, कुलीन और अच्छे अच्छे पद वाले हैं, इनके प्रति गाँववालों के मन में श्रद्धा का भाव भी जागने लगा। फिर भी सर्वत्र

ऐसे कुछ लोग तो रहते ही हैं, जिनकी विषयों में घोर आसक्ति होती है, जो भक्ति-पूजा कुछ नहीं मानते और जिन्हें किसी भी प्रकार का धर्म-कर्म फूटी आँखों नहीं सुहाता। एक दूसरी श्रेणी के भी लोग थे, जो कट्टर और रूढ़िवादी थे। ये श्रीमाँ के सधवा लक्षण, लम्बी केशराशि, किनारवाली साड़ी और रीति-नियमों में निष्ठा का अभाव देख कुढ़ा करते। विशेषकर कोयालपाड़ा आश्रम के अध्यक्ष श्रीयुत केदारनाथ दत्त (बाद में स्वामी केशवानन्द) और उनके अनुयायी छात्र-भक्तों का संसार छोड़कर संन्यास ले लेना, आश्रम में सभी जातियों के लोगों का एक साथ बैठकर भोजन करना और रहना तथा वर्ण-भेद त्यागकर सबका सब प्रकार के काम करना—ये ऐसी बातें थीं, जो स्थानीय लोगों के मन में विक्षोभ पैदा करती रहतीं।

श्रीमाँ को केन्द्र बनाकर कोयालपाड़ा का आश्रम धीरे धीरे बढ़ रहा था। उनका बीच बीच में वहाँ पदार्पण भक्तों के हृदय को उल्लसित कर देता। कोयालपाड़ा के इन कार्यकर्ताओं ने दूर दूर से आनेवाले भक्तों की जिस निष्ठा से सेवा की, श्रीमाँ की सेवा-टहल के लिए जो असुविधाएँ और दुःख-कष्ट उठाये, उसकी तुलना नहीं है। लगता है कि जगदम्बा ने स्वयं अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह अद्भुत वातावरण तैयार किया था।

पहले-पहल बाहर से आयी भक्त-सन्तानों के भोजन-निवास और सुख-सुविधा की व्यवस्था में

माँ को बड़ा परिश्रम और कष्ट करना पड़ता था। जयरामवाटी एक छोटा सा गाँव है। कोई चीज पैसा देने पर भी नहीं मिलती। कोई दुकान वहाँ नहीं। साधारण उपयोग की चीज खरीदने के लिए दूसरे गाँव जाना पड़ता है। गरीब किसानों और अड़ोस-पड़ोस के घरों में खेत में पैदा हुई चीजें, शाक-सब्जी, चावल, दाल, मुरमुरा, गुड़ और कभी कभी थोड़ी मात्रा में दूध मिल जाया करता है। माँ का शरीर जब तक चला, वे स्वयं कोशिश करके जब जो चीज मिली, खरीदकर रख लेतीं और घर-बार चलातीं। फिर, उस समय भक्तों की संख्या भी कम थी। उनकी जन्मदायिनी जब तक काम-काज करने में समर्थ थीं, तब तक वे भी अपने नाती-भक्तों की—'सारदा की सन्तानों' की सुख-सुविधा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करतीं। उसके बाद भक्तों की संख्या बढ़ चली, नानी का शरीर चला गया और माँ का शरीर भी उम्र अधिक हो जाने से चलता नहीं था, ऐसे समय विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोयालपाड़ा आश्रम का सृजन हुआ !

जब माँ जयरामवाटी में रहा करतीं, तब कोयाल-पाड़ा के सेवकगण आश्रम से दो मील दूर कोतलपुर के हाट में सप्ताह में दो बार जाते, सौदा करते, बोझा अपने सिर पर रख आश्रम वापस लौटते और दूसरे दिन सुबह पुनः सिर पर बोझा लें चार मील दूर जयरामवाटी जाकर माँ के चरणों में निवेदित कर प्रणाम करते। जिसने भी यह

दृश्य देखा है, वह जीवन भर इसे भूल नहीं सकता। यदि वे लोग दोपहर को रुककर भोजन करके वापस लौटते हैं, तो इससे माँ का काम बढ़ता है, इस डर से वे माँ का स्नेह से दिया मुरमुरा खाते खाते उनके साथ पुलकित मन से वार्तालाप करते और आवश्यक वस्तुओं की पूछताछ कर, माँ के चरणों की धूल सिर पर लगाते हुए उनका आशीर्वाद ले, सन्तुष्ट चित्त और प्रफुल्ल हृदय से फिर से चार मील चलकर लौट आते। वापस आकर दोपहर का भोजन करते ! यदि विशेष जरूरी हो, तो शायद दूसरे ही दिन फिर से आना पड़े ! यह सारा परिश्रम और कष्ट, आश्रम का कठिन काम-काज, गरीब आश्रम की खाने-पीने की विषम कठोरता––यह सब कुछ भी उनके अदम्य उत्साह और सेवापरायणता को शिथिल नहीं कर पाता। भला क्यों ? ऐसा वह कौनसा अमृतरस था, जिसने उनके भीतर इस प्रकार असाधारण बल का संचार किया था ? इस प्रेरणा के मूल में था अलौकिक मातृस्नेह, माँ का असीम स्नेह और ममता। इस सुधापान से तृप्त और बलवान हो मातृभक्ति के सहारे उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिया। माँ, तुम जिसे अपने स्नेह का अमृतरस पिलाती हो, जिसने भी तुम्हारे इस अलौकिक स्नेह का आस्वादन किया है, उसके लिए 'असम्भव' नाम की कोई चीज ही नहीं रहती। इस सुधा को पीकर तुम्हारी वीर सन्तान विवेकानन्द विश्वविजयी बने और राखाल-राजा (ब्रह्मानन्द) राज्य-संस्थापक, तथा प्रेमानन्द,

शिवानन्द, सारदानन्द आदि तुम्हारी धन्य सन्तानों ने तुम्हारे स्नेह-साम्राज्य का सुचारु रूप से संचालन करते हुए दिग्दिगन्त में उसका विस्तार कर दिया--विश्ववासियों को खींचकर तुम्हारी गोद में लाकर दे दिया। हे जननी ! तुमने अपने अपूर्व मातृभाव की जो लीला हमें दिखायी है, उसे सुनने के लिए उत्सुक नवीन सन्तानों को बताने की योग्यता हमें प्रदान करो।

(क्रमशः)

आत्म-साक्षात्कार कैसे करें ?

स्वामी यतीश्वरानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। उनके लेखों में अध्यात्म विद्या को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कला होती है। प्रस्तुत लेख मूल अँगरेजी में 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' के मई-जून १९४२ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से वह साभार गृहीत हुआ है। --सं०)

हममें से प्रत्येक में जीवन, ज्ञान और आनन्द की चाह है। हम सभी सुखपूर्वक तथा समझ-बूझकर जीना चाहते हैं। अखण्ड सत्, चित् और आनन्द हमारा वास्तविक स्वरूप है। जब हम बाह्य जगत का विश्लेषण करते हैं, तो समस्त दृश्य जगत् के पीछे भी इसी तत्त्व को पाते हैं। प्रत्येक वस्तु की सत्ता है और प्रत्येक वस्तु में हमारी चेतना को प्रभावित करने की क्षमता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार की ज्योति है, जो उसके भीतर से प्रकाशित होती है। अन्तर प्रकार में नहीं, केवल मात्रा में है; सभी पदार्थ न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। सुख की लालसा सदैव बनी रहती है और मन विषयों की ओर केवल इस आशा से दौड़ता है कि उसे उनमें सुख मिलेगा। वह किसी वस्तु को उसके स्वरूपगत मूल्य के लिए नहीं चाहता। इस प्रकार न केवल स्वयं में, बल्कि जगत् के सभी जड़ और चेतन पदार्थों में हमें सत्, चित् और आनन्द की झलक प्राप्त होती है। नाम और रूप सत्य का मुँह ढक लेते हैं, किन्तु सभी नाम और रूप

अपने पीछे अवस्थित सत्ता की महिमा को अस्पष्ट रूप से प्रतिविम्बित करते हैं। हममें इस सत्ता की अवचेतन संवेदना सदैव वनी रहती है। यह संवेदना भले ही वहुत अस्पष्ट और धुँधली हो, पर रहती अवश्य है, और सारे आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य इस अस्पष्ट चेतना को स्पष्ट करना है। अगर हम सही माने में सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं, तो हमें स्वयं से ही प्रारम्भ करना होगा और उसका पता लगाना होगा, जो अहं के पीछे अवस्थित है।

जव तक मिथ्या तादात्म्य और व्यक्तित्व का मिथ्या भाव वना हुआ है, तव तक परमेश्वर के सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह मिथ्या तादात्म्य हम सभी में विद्य-मान है और इस कारण हमारी चेतना का केन्द्र सदा वद-लता रहता है। कार्य करते हुए या जागतिक स्तर पर रहते हुए भी अपनी चेतना को अतीन्द्रिय भूमि में केन्द्रित रखना सम्भव है, पर जव तक शरीर और मन के साथ यह मिथ्या तादात्म्य वना रहेगा, तव तक यह स्थिति कभी प्राप्त नहीं की जा सकती। जब हम शरीर के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं, तब हमें आनन्द और पीड़ा का अनुभव होता है और जव मन के साथ तादात्म्य स्थापित होता है, तब सुख और दुःख का। इन दोनों अवस्थाओं में 'अहं' ही सामान्य घटक है, जो विभिन्न रूपों में प्रकट होता है। जब तक 'अहं' बना हुआ है, तब तक हम ब्रह्म की झलक भी नहीं पा सकते। तथापि इस सन्दर्भ में एक बात महत्त्व-पूर्ण है—मिथ्या तादात्म्य के समय भी ऐसे तत्त्व की चेतना

बनी रहती है, जो सदैव वर्तमान है, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। यह तो साधक का कार्य है कि वह उस अपरिवर्तनशील शाश्वत तत्त्व को खोज निकाले। सान्त का कोई भी विचार बिना अनन्त के विचार के, भले ही वह कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो, सम्भव नहीं है। एक को सत्य मानने का अर्थ है दूसरे को भी सत्य मानना। अनादि-अनन्त, विशुद्ध चैतन्य यह आत्मा निरूपित नहीं किया जा सकता है, इसका केवल साक्षात्कार किया जा सकता है।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्'—'यह आत्मा उसी के द्वारा जाना जा सकता है, जिसका वह वरण करता है और जिसके सामने वह अपने को व्यक्त करता है।' अद्वैत की दृष्टि से तुम स्वयं ही अपने चयनकर्ता हो, क्योंकि यह आत्मा, यह सत्य तुमसे भिन्न कुछ नहीं है, और यदि तुम अपने आपको इस सत्य के ज्ञाता के रूप में चुनो और सचमुच इसके लिए प्रयत्न करो, तो तुम वही हो जाओगे। आध्यात्मिक अनुभव का तात्पर्य ही है आत्म-साक्षात्कार।

निर्भीक बनो और सत्य का सामना करो। कठोरता-पूर्वक आत्म-निरीक्षण करो। सबसे पहले तो तुम्हें अपने आप को ही खोजना है और उसे फिर से पाना है; इसके बाद ही उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रश्न उठ सकता है।

जब हम यह समझ लेते हैं कि हम न शरीर हैं, न भावनाओं के पुतले, न पुरुष हैं, न नारी, अपितु आध्यात्मिक सत्ता हैं, तब आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ

होता है। यह आदर्श हमारे समस्त प्रयत्नों के आधार के रूप में आवश्यक है।

हमारे लिए स्वाधीनता की सही धारणा होना आवश्यक है। क्या हम इन्द्रियों के लिए स्वाधीनता चाहते हैं? क्या हम भोग की अनुमति चाहते हैं, अथवा इन्द्रियों से स्वाधीनता चाहते हैं? स्वाधीनता का सही आशय क्या है? क्या मन को भोगों के पीछे दौड़ने देना और इन्द्रियों का गुलाम बन जाने देना स्वाधीनता है? इस प्रकार अपनी कब्र स्वयं खोदना क्या स्वाधीनता है? अथवा स्वाधीनता इसमें है कि हम अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण और स्वामित्व प्राप्त कर लें और इस प्रकार इन्द्रियों और उनकी लालसाओं से मुक्त हो जायँ? यही वह अवस्था है, जिसे आत्मा की स्वाधीनता को प्राप्त होना कहते हैं।

जब तक हम अपनी दास-प्रवृत्ति से चिपके रहेंगे और इन्द्रियों के द्वारा गुलामों की तरह परिचालित होते रहेंगे, तब तक हम प्रगति नहीं कर सकते। इन्द्रिय-संयम और पवित्रता का जीवन ही मुक्ति प्रदान करता है। आध्यात्मिक जीवन में भौतिक अथवा मानसिक, किसी भी प्रकार के रोमांस के लिए स्थान नहीं है। यह संघर्ष और परिश्रम का एक कठोर जीवन है। हम मुक्ति और निर्भयता चाहते हैं। हम शरीर और मन की सीमाओं से छुटकारा पाना चाहते हैं, किन्तु जब तक हम अपनी इच्छाओं और लालसाओं से चिपके रहेंगे, तब तक यह सम्भव नहीं है।

आचार्य शंकर कहते हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय: ॥

—'मनुष्य-जन्म, मुमुक्षा और महापुरुषों का आश्रय, ये तीन बड़े दुर्लभ हैं और परमेश्वर की कृपा से ही प्राप्त होते हैं।' पर जब तक हम इन तीनों का लाभ उठाने को तत्पर न हों और उच्चतर जीवन के लिए सब कुछ त्यागने के लिए तैयार न हों, तब तक ये तीन भी पर्याप्त नहीं होते। बिना पूरा मूल्य चुकाये हम मुक्त और निर्भय नहीं बन सकते, और मुक्ति एवं निर्भयता के अभाव में न हम इस जीवन में सुखी रह सकते हैं, न अन्य किसी जीवन में। अत: हमें सर्वोत्कृष्ट के लिए अपनी समस्त क्षुद्र भावनाओं एवं व्यक्तिगत इच्छाओं को त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिए। तभी एक दिन सर्वोच्च को हम पा सकेंगे। संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष—यही एकमात्र पथ है। हम ध्यान रखें कि हमें मुक्ति यहीं और अभी, इसी जीवन में प्राप्त कर लेनी है।

सच्चे त्याग और वैराग्य के विना साधना सफलतापूर्वक नहीं की जा सकती। जिस अनुपात में हम अपनी कामनाओं का त्याग कर सकते हैं और दूसरों के प्रति राग-द्वेष को मिटा सकते हैं, उसी अनुपात में साधना की सफलता और प्रगति निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में हम कभी अपने आपको मन के द्वारा छलने न दें। हम अमुक व्यक्ति अथवा विषय को क्यों त्याग नहीं सकते

इसके लिए मन सदा ही कोई न कोई युक्तिसंगत कारण प्रस्तुत करने को तैयार रहता है; वह अवचेतन अथवा अर्धचेतन वासनाओं का प्रवक्ता बनने के लिए सदैव तत्पर रहता है। अतः हमें न केवल जप-ध्यान, प्रार्थना तथा अन्य साधनाओं की आवश्यकता है, अपितु त्याग और वैराग्य की भी। और जिस परिमाण में हम सच्चा त्याग और वैराग्य प्राप्त करने में सफल होंगे, उसी परिमाण में हमारे प्रयत्नों का सच्चा और उल्लेखनीय प्रभाव पड़ेगा।

जिन वस्तुओं या व्यक्तियों से हम उत्कटता से प्रेम करते हैं, वे हमारे मन को प्रभावित करते हैं और उसमें राग-द्वेष और घृणा को उपजा देते हैं। राग और द्वेष एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे एक ही श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। अतएव हमें वैराग्यवान् बनकर तथा व्यक्तिगत रुचियों और अरुचियों को त्यागकर सब प्रकार की आसक्ति और भय से छुटकारा पा लेना चाहिए। हम दयालु हों, पर अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क से बचें। न तो हमारा किसी पर कोई व्यक्तिगत या स्वार्थगत अधिकार हो, न हम किसी को अपने ऊपर या अपने स्नेह पर व्यक्तिगत अधिकार जताने दें। ईसा ने कहा है, "जो पिता या माता को मुझसे अधिक प्यार करता है, वह मुझे पाने योग्य नहीं।" इससे बढ़कर सत्य और नहीं हो सकता, और जो स्वयं को प्रभु से अधिक प्रिय बनाता है, वह भी प्रभु को प्राप्त करने योग्य नहीं है; वह प्रभु को कभी पा ही नहीं सकता, चाहे कितना ही कठोर परिश्रम क्यों न करे। जो हम बोते हैं,

वही काटते हैं। जब तक हम क्षुद्र राग और द्वेष, रुचि और अरुचि के बीज बोएँगे, जब तक हम स्वयं तथा दूसरों को तथाकथित प्रेम की बेड़ियों में जकड़े रहेंगे, तब तक हम क्रीत दास ही बने रहेंगे और अपने एवं दूसरों को कष्ट ही देते रहेंगे।

साधकों को आध्यात्मिक जीवन का एक रहस्य जान लेना चाहिए—हममें से प्रत्येक में राग और द्वेष दोनों हैं। यह सम्भव नहीं कि इनसे हम एकदम छुटकारा पा लें। इसलिए हमें अपने प्रेम को प्रयत्नपूर्वक परमेश्वर की ओर मोड़ना चाहिए, किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर नहीं। इसी प्रकार हम अपने द्वेष को उन सभी वस्तुओं की ओर मोड़ें, जो हमारे अपने स्वरूप के बोध में तथा हमारी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होती हैं।

एक कार्यकर आदर्श के बिना आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ नहीं हो सकता। यदि हम इस कार्यकर आदर्श को बहुत ऊँचा रख लें, तो कुछ भी नहीं मिलेगा, किन्तु साथ ही आदर्श को गिराना भी नहीं चाहिए। हमें उत्तरोत्तर उच्च कार्यकर आदर्शों को लेकर उच्चतम आदर्श तक उठना चाहिए। ऋषियों और आचार्यों के वचनों में विश्वास होना चाहिए और साथ ही अपनी क्षमता, शक्ति और पवित्रता में भी। पर केवल विश्वास ही पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी पूरी शक्ति से प्रयत्न करना चाहिए। नैतिक विकास का अर्थ है—ब्रह्मचर्य, मन, वचन और कर्म की पवित्रता, भोजन की विशुद्धता, अपने सम्बन्धों की शुद्धता

और जो कुछ हम सुनते हैं, उसकी पवित्रता ।

सर्वप्रथम है शारीरिक स्वच्छता । उसके बाद है मन की पवित्रता । वाणी पर नियंत्रण भी बहुत आवश्यक है । जो वचन पूर्णतः पवित्र न हों, उन्हें हम सुनें ही न । साथ ही हमें ऐसा वर्तन करना चाहिए, जिससे दूसरे लोग हमारे सामने कोई अशुभ चर्चा करने का साहस न कर सकें । पवित्र विचारों का एक अन्तर्प्रवाह निरन्तर प्रवाहित करते रहने का तथा अपने मन को सदैव लक्ष्य पर लगाये रखने का हमें प्रयत्न करना चाहिए । शुभ विचारों का अन्तर्प्रवाह हमारी रक्षा करेगा और हमारे चारों ओर पवित्रता और नैतिकता का वातावरण बनाएगा ।

जो पदार्थ और व्यक्ति हमें किसी भी प्रकार प्रलोभित करते हैं, उनके प्रति एक नया दृष्टिकोण बनाना होगा । यह तब तक आवश्यक है, जब तक उनसे हम निर्लिप्त नहीं हो जाते । हमें अपने मन की गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखनी होगी, जिससे हम अधिक से अधिक जागरूक और प्रत्येक बात में निश्चित हो सकें । जब तक हम जागते हैं, उस बीच मन में किसी भी प्रकार का अचेतन स्फुरण न हो—ऐसा कोई विचार न हो, जो हमारे अनजान में उठ जाय । यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि साधना की प्रारम्भिक अवस्था में—और यह प्रारम्भिक अवस्था अनेकानेक वर्षों तक बनी रह सकती है—साधना प्रारम्भ करने से पूर्व की अवस्था की तुलना में देह-बोध अधिक प्रबल और मन अधिक चंचल

हो जाता है। साथ ही, यदि हम अपने राग और द्वेष के विषयों से भौतिक एवं मानसिक रूप से सतर्कतापूर्वक बचने की कोशिश न करें, तो ये राग-द्वेष बड़े प्रबल और घातक हो जाते हैं।

हम यह ध्यान रखें कि सोने से पहले ऐसा साहित्य न पढ़ें, जिसमें दुनियादारी की बात हो, क्योंकि सो जाने के बाद भी वह अवचेतन मन पर अपना प्रभाव डालता रहता है। इसका परिणाम वहुत बुरा होता है। हम मन को किसी पवित्र विचार या ध्वनि में लगाएँ और अपने समूचे आप को प्रभु के विचारों से भर लें। ज्यों ज्यों हम निद्रा की गोद में उतरते जायँ, त्यों त्यों ईश्वर के नाम या रूप या भाव का अथवा तीनों का शान्तिपूर्ण और गहरा चिन्तन करें। यह सवसे प्रभावी साधन है। केवल इसी तरह हम अवचेतन मन के उपादानों को बदलने में सफल हो सकते हैं।

अच्छी आदतें डालनी चाहिए और उन्हें पुष्ट करना चाहिए। इससे आध्यात्मिक जीवन सुगम होता है और प्रारम्भिक तनाव कम। साधना के लिए समय निश्चित कर लेना चाहिए और उसका कड़ाई से पालन करना चाहिए। इससे, मन की चंचलता के वावजूद, ध्यान क्रमश: सधने लगता है। साधना में अभी अभी लगनेवाले व्यक्ति को, और साथ ही कुछ वढ़े हुए व्यक्ति को भी, साधना की अवधि धीरे धीरे ही बढ़ानी चाहिए; क्योंकि पर्याप्त अभ्यास के वाद ही साधक अपने मन के उस अन्तर्प्रवाह

का पूरा पूरा उपयोग करने में समर्थ होता है, जो मन के एक अंश को हर परिस्थिति और दशा में अभ्यास में लगाये रखता है। जब तक वह अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक सभी साधकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे प्रतिदिन के लिए तय की गयी न्यूनतम साधना का अभ्यास अवश्य करें और समय की नियमितता का कड़ाई से पालन करें।

हमें सदैव इस प्रकार जीवन यापन करना चाहिए कि जब मृत्यु आये, तो हम अधरों पर मुसकान ले उसका स्वागत कर सकें। मृत्यु हमारे लिए अमरत्व के द्वार को खोलनेवाला स्वागत योग्य सोपान बने। हम उससे कभी न डरें। यह जीवन एक मिटता हुआ दृश्य मात्र है, एक अवस्था है। हमारा भविष्य इस पर निर्भर करता है कि हम इस जीवन में क्या सोचते हैं और हम क्या हैं—इस पर नहीं कि हम अपने को कैसा दिखाते हैं।

सत्य जो हो, निडरतापूर्वक हम उसका सामना करें। एक कटु सत्य प्रिय असत्य की अपेक्षा अनन्तगुना श्रेयस्कर है, भले ही वह हमारा हृदय विदीर्ण कर देता हो अथवा हमारी प्यार की सहेजी आशाओं और खयालों को तोड़ देता हो। हर परिस्थिति में सत्य की ज्योति ही हमारे समक्ष चमके। इससे बढ़कर और कोई सत्य नहीं है कि एक दिन यह शरीर नष्ट हो जायगा; इसलिए आओ, हम अपने को ऐसा कहकर धिक्कारने का मौका न दें कि हमने अपना समय, यह बहुमूल्य मानव-जन्म और अपनी दैवी सम्भावनाएँ सब व्यर्थ में गँवा दिया।

मृत्यु सदैव शरीर की होती है, आत्मा की नहीं। तब मृत्यु से क्यों डरो ? अरथी उतनी ही सत्य है, जितना पालना। श्मशान उतना ही सत्य है, जितनी सौरी। तथापि एक से हम भागते हैं और दूसरे से उत्फुल्ल होते हैं। ऐसा क्यों ? न तो हम जीवन से चिपकें, न मृत्यु से भागें; क्योंकि आत्मा दोनों से अछूता है---वह जीवन की इस छाया से, इस भौतिक अस्तित्व से अनन्तगुना महान् है।

हम अपने एवं दूसरों के शरीर से बँधते हैं, अपने एवं दूसरों के मन से चिपकते हैं और समझते हैं कि हमने जीवन को पकड़ रखा है। पर यह असत्य है। हम केवल परछाईं को पकड़े हुए हैं! सच्चा साधक, जिसे यथार्थ की आध्यात्मिक पिपासा है, न तो जीवन से चिपकता है और न मृत्यु से डरता है, क्योंकि उसके लिए दोनों ही थोथे हैं। यह संसार एक प्रशिक्षण स्थल है, और हमें जीवन की जो अल्प सी अवधि मिली है, उसका पूरा पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। वे ही मृत्यु से डरते हैं, जो संसार में डूबे हुए हैं और व्यक्तिगत आसक्तियों से चिपके हुए। आध्यात्मिक मानसिकतावाले कुछ नहीं खोते। वह तो जीवन की स्थूल अवस्था से सूक्ष्म अवस्था में जाने के समान है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं। यदि हम इस जीवन-संघर्ष में खेत भी रहे, तो हम आनेवाले नये नये जन्मों में नवीन उत्साह के साथ कार्य करेंगे। एक के बाद एक सीढ़ियाँ चढ़ते हुए, एक के बाद एक अवस्थाएँ पार करते हुए हम आगे बढ़े चलेंगे, जब तक कि जीवन का चरम

लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता।

आध्यात्मिक प्रगति अथवा आत्म-साक्षात्कार में जो बाधाएँ आती हैं, सामान्यतः हमीं उनको जन्म देते हैं। हम अपने को देह और मन के रूप में सोचते हैं और उसके बाद दूसरों के साथ स्त्री अथवा पुरुष के रूप में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इन सम्बन्धों से कालान्तर में राग और द्वेष का जन्म होता है। देह और मन का यह समूचा जीवन किस पर निर्भर करता है ?— नाम और रूप पर नहीं, चैतन्य पर। ज्योंही आत्मा शरीर को छोड़ता है, उसी क्षण शरीर निर्जीव हो जाता है। उसका सारा आकर्षण समाप्त हो जाता है। जिसने हमें आकर्षित किया था, वह रूप नहीं था बल्कि चैतन्य था, जिसे हमने भ्रान्ति से उस शरीर या मन से अभिन्न माना था। सत्य पर इस अध्यास के कारण ही संसार में यह प्रबल मोह दिखायी देता है।

जब तक हम इन गलत धारणाओं और मान्यताओं को, रुचियों और अरुचियों को, अपने राग और द्वेष को दूर नहीं करेंगे, तब तक हम तनिक भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकते। यदि मैं देह के जीवन को इतना प्यार करता हूँ, तो उसे क्यों नहीं देखता, जिस पर वह खड़ा है ? हमें आत्मा से प्यार करना सीखना चाहिए, क्योंकि उसी के अस्तित्व के कारण शरीर में प्राणों का स्पन्दन है ! कारण अपने कार्य से बड़ा हुआ करता है, और समस्त जीवन का कारण यह आत्मा ही है। यदि मैं शाश्वत और

अपरिवर्तनशील जीवन और प्रेम चाहता हूँ, तो मुझे आत्मा की ओर देखना चाहिए, उसकी किसी उपाधि की ओर नहीं। पर यह अनुभव करने में और अपनी इस महती भूल को समझने में हमें अनेक अनेक जन्म लग जाते हैं।

हमारा महान् कार्य है इस भौतिक जगत् के परे चले जाना और सत्य को पा लेना। पर मन, वाणी और कर्म से पवित्र हुए बिना यह सम्भव नहीं। जब तक हम भौतिक और मानसिक रूप से द्वैत में बँधे हुए हैं, तब तक चरम एकत्व, अद्वैत तक नहीं पहुँचा जा सकता। कुछ साधक कहा करते हैं, "प्रभो ! मैं तेरा हूँ," जबकि कुछ दूसरे कहते हैं, "प्रभो ! मैं तू ही हूँ !" भाव की अभिव्यक्ति में अन्तर है, पर चरम लक्ष्य एक ही है। दोनों दशाओं में ईश्वर ही एकमात्र कर्ता और नियन्ता हैं, अहंकार लुप्त हो गया है। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

[आध्यात्मिक पथ का अनुसरण करने के लिए कोई बाध्यता नहीं है, पर जिन्होंने इस पर चलने का निश्चय किया है, उन्हें बड़े उत्साह और धैर्य के साथ इस पर आगे बढ़ चलना चाहिए और कभी डाँवाँडोल नहीं होना चाहिए। हमें प्रबल निष्ठा और लक्ष्य में एकाग्रता का विकास करना होगा। यह देखना होगा कि अनिश्चय और आशंका हमें विचलित न कर दे। हमें इस जीवन में ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्परतापूर्वक लग जाना होगा।

●

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य थे तथा रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। उनके कुछ उपदेशों का संकलन मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्‌बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया है, जिसका धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्‌बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है। —सं०)

स्थान—बेलुड़ मठ

दिसम्बर, १९१५

महाराज– साधारण मनुष्य का मन नदी के स्रोत के समान सदा निम्नगामी रहता है––कामिनी-कांचन और मान-यश की तरफ दौड़ता रहता है; उसकी दिशा मोड़ देनी होगी, उसे ईश्वराभिमुखी करना होगा। ठाकुर का मन हमेशा तुरीयभूमि में निवास करता था, उन्हें बल-पूर्वक अपने मन को जगत् की ओर लाना पड़ता था। पंचवटी में जब वे साधना करते थे, तब सदा ही उनका मन उस भूमि में निवास करता था। जब थोड़ा नीचे आता, उस समय जो उनके पास रहता, वह एक कौर भात उनके मुँह में ठूँस देता था। इस तरह पूरे दिन भर में वह शायद सात-आठ कौर भात जबरदस्ती खिला पाता था।

सर्वदा उनका स्मरण-चिन्तन करो। सब समय स्मरण-चिन्तन का अभ्यास बन जाने से ध्यान में बैठते ही ध्यान जम जाता है। ध्यान जितना जमेगा, उतना ही भीतर में आनन्द पाओगे। तब काम-कांचन सचमुच में

फीका मालूम पड़ने लगेगा। इसीलिए फालतू विचार, फालतू बातों का त्याग करना होगा। व्यर्थ के विचारों से शक्ति का नाश होता है। उपनिषद् में कहा है, "अन्या वाचो विमुंचथ"––'बाकी सब बातें त्याग दो', केवल आत्मा का ध्यान करो, यही मोक्ष का उपाय है। रामप्रसाद ने कहा था, 'शयने प्रणाम ज्ञान, निद्राय करो माके ध्यान; नगर फेरो मने करो प्रदक्षिण श्यामा मारे।" (सोओ तो समझो कि माँ को प्रणाम करता हूँ, नींद में माँ का ध्यान करता हूँ और रास्ते पर से चलने पर सोचो कि श्यामा माँ की प्रदक्षिणा कर रहा हूँ।)

गीता में भी कहा है, "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।" यही है भगवान्-लाभ का उपाय। ठाकुर कहते थे, "मन का फालतू खर्च करना ठीक नहीं।" अर्थात्, उनका स्मरण-मनन करना होगा। संसारी लोग रुपया-पैसा वृथा खर्च न हो, इस ओर कितनी नजर रखते हैं; किन्तु मन का कितना अपव्यय कर रहे हैं, इसका कोई होश नहीं।

स्थान––बेलुड़ मठ

दिसम्बर, १९१५

प्रश्न–जप-ध्यान में बैठने से कभी कभी मन खूब स्थिर होता है, और कभी कभी हजार चेष्टा करने पर भी स्थिर नहीं हो पाता, सिर्फ इधर-उधर दौड़ता फिरता है।

उत्तर–अरे, गंगा में ज्वार-भाटा होता है, जानता तो है ? उसी प्रकार सब चीजों का ज्वार-भाटा है। साधन-भजन का भी ज्वार-भाटा है, किन्तु वह पहले-

पहल ही होता है। उसके लिए कुछ सोचना मत। कमर कसकर लगे रहना होगा। कुछ समय तक यदि नियमित रूप से साधन-भजन किया जा सके, तो ज्वार-भाटा फिर नहीं उठेगा; तब गंगा समान रूप से बहने लगेगी।

आसन में बैठते ही एकदम जप-ध्यान आरम्भ करना ठीक नहीं। पहले विचार पूर्वक मन को बाहर से समेटना होगा, फिर उसके बाद जप-ध्यान आरम्भ करना होगा। कुछ दिन इस तरह अभ्यास करने से मन क्रमशः स्थिर हो जायगा।

जब देखोगे कि मन थोड़ा स्थिर हो रहा है, तो उस समय सारे काम छोड़कर जप-ध्यान करना। और जब अच्छा न लगे, मन स्थिर न हो, उस समय नियमित समय पर आसन पर बैठकर विचार आदि की सहायता से मन को स्थिर करने की चेष्टा करना। मन क्या चट से स्थिर हो जाता है? Struggle, struggle, struggle (संघर्ष, संघर्ष, संघर्ष—प्रतिक्षण struggle (संघर्ष) करना होगा। मन कहो, बुद्धि कहो, चाहे इन्द्रिय कहो— struggle (संघर्ष) करने से सभी control (वश) में आ जाते हैं।

प्रश्न—महाराज, ठाकुर क्या अभी भी हैं?

उत्तर—मालूम होता है, तुम्हारा सिर फिर गया है। हम लोग घर-द्वार छोड़कर आजीवन इस तरह पड़े हुए हैं, यह किसलिए? वे सब समय है। उन्हें जानने के लिए दिनरात उनसे प्रार्थना करो। वे सब संशय दूर कर देंगे, अपना स्वरूप समझा देंगे।

प्रश्न —आप लोग ठाकुर को अब भी देख पाते हैं?

उत्तर —जब वे दया करके दर्शन देते हैं, तब देख पाते हैं। उनकी दया होने से सभी उन्हें देख सकेंगे। पर उन्हें देखने के लिए वैसा अनुराग, वैसी आकांक्षा कितने लोगों में है ?

स्थान—बेलुड़ मठ
७ जनवरी, १९१६

प्रश्न—एक ही कुटुम्ब में एक ही प्रकार की शिक्षा पाकर एक व्यक्ति साधु और एक व्यक्ति दुष्ट क्यों होता है ? यह क्या संस्कार के कारण नहीं है ?

महाराज—सभी free will (स्वाधीन इच्छा) से चल रहा है। एक ने इच्छा की कि मैं साधु होऊँगा। वही इच्छा क्रमशः दृढ़ होती गयी। तभी वह साधु हो सका। और एक ने दूसरे प्रकार की free will (स्वाधीन इच्छा) की, इसलिए वह उसी प्रकार का हुआ।

प्रश्न—अच्छा, मुर्गी के बच्चे पानी में नहीं उतरते, बाज को देखते ही डर के मारे भागते हैं, और बदक के बच्चे पानी में उतरकर तैरते हैं। वे क्या पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ऐसा नहीं करते ?

उत्तर—वह कैसे कहूँ ? जब अण्डे के आकार में थे, तब पानी में गिरने क्यों नहीं गये ? छोटे बच्चे पहले-पहल बाज से नहीं डरते। जब उनकी इच्छाशक्ति का विकास होता है, तभी डरने लगते हैं। छोटे बच्चे आग में उँगली डालने जाते हैं, बाद में इच्छाशक्ति का विकास होने पर जब भला-बुरा सोचने की शक्ति आ जाती है, तब वैसा नहीं

करते। दैनिक जीवन में ही देखिए न। आप अस्वस्थ हुए—शरीर क्षय की ओर जाने लगा; आपकी इच्छा ने कहा, औषधि सेवन करके रक्षा करो। फलस्वरूप कुछ समय तक शरीर टिका रहा। इसी तरह free will (स्वाधीन इच्छा) के द्वारा ही सृष्टि, स्थिति, और प्रलय चल रहा है, आप समझे या नहीं ? साधन-भजन और क्या है ?—इसी स्वाधीन इच्छा की वृद्धि करना। जिसकी इच्छाशक्ति जितनी बढ़ेगी, वह भगवान् की ओर उतना ही अग्रसर होगा। ठाकुर कहते थे, "खुद के भीतर शक्ति जगाओ।" मन्द वैराग्य, मर्कट वैराग्य के द्वारा यह नहीं हो पाता। जिसका मन जितना शुद्ध होता है, उसकी स्वाधीन इच्छा उतनी ही बढ़ती है। देखिए न, बुद्धदेव ने एक वृक्ष के नीचे बैठकर इच्छा की, यहाँ पर या तो मेरा शरीर ही सूख जाय, या फिर भगवान्-लाभ ही हो। इच्छाशक्ति बहुत प्रबल थी, इसीलिए भगवान्-लाभ हुआ। यह सभी लोगों के लिए सत्य है। ब्रह्मचारी इत्यादि सभी लोगों को अपनी इच्छाशक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए कि मुझे इसी जन्म में भगवान्-लाभ होगा। फिर करेंगे या वाद में होगा—यह सब नहीं चाहिए। आपकी इच्छाशक्ति ही तो आपको चला रही है। आपने इच्छा की कि शरीर यहाँ से उठकर वहाँ जाकर बैठे, तभी तो आप वैसा कर सके। जो कुछ किया जाता है, उसके पहले ही इच्छा कहती है—ऐसा करो, वैसा करो। एक मृत शरीर पड़ा हुआ है, उसकी इन्द्रियाँ इत्यादि सभी हैं, आँखें

भी खुली हैं। फिर क्यों वह उठ या चल नहीं सकता ? इसके बारे में आप क्या कहते हैं, बताइए ?

उत्तर--उसमें चैतन्य नहीं है, इसीलिए ऐसा नहीं होता।

महाराज--वह तो आपने एक शब्द कह दिया। चैतन्य से आप क्या समझते हैं, कहिए भला ? व्याख्या करके बतलाइए।

उत्तर--Electricity (विद्युत्) चली गयी।

महाराज--विद्युत् देकर कोई शव को जरा जिन्दा तो करे, देखूँ सही।

उत्तर--मैंने ऐसा रोगी देखा है, जिसके हाथ-पैर ठण्डे हो गये थे, मरने के चिह्न भी दिखायी दे रहे थे, किन्तु विद्युत् देकर कुछ घण्टे तक उसे बचा लिया गया था।

महाराज--तो वह पूरा मरा नहीं था। मृत्यु के मात्र कुछ चिह्न ही दिखायी दे रहे होंगे; इसीलिए आप उसे विद्युत् देकर थोड़ा चेतन कर सके। किन्तु जो पूरा मरकर काष्ठवत् हो गया है, उसका क्या ऐसा होगा ?

उत्तर--नहीं, वैसा नहीं होगा।

प्रश्न--अच्छा, इच्छाशक्ति कहाँ से आती है ?

महाराज--यह दूसरा प्रश्न है और प्रसंग भी दूसरा है। शव में free will (स्वाधीन इच्छा) नहीं है। वह इच्छा नहीं कर सकता, इसीलिए हिल-डुल नहीं सकता। आज बस यहीं तक हो। कल मैं आपका पक्ष लूँगा और समझा दूँगा कि संस्कार और इच्छाशक्ति भी कुछ नहीं है।

एक बात आपको हृदय से कह रखता हूँ। अभी भले न समझ सकें, पर समय आने पर समझ सकेंगे। किन्तु

इसे याद रखिएगा। बात यह है, प्रत्येक व्यक्ति का मन और उसकी बुद्धि उसे अच्छे पथ की ओर ही ले जा रही है। वह उसका बुरा नहीं होनें देती। किसी को कँटीले मार्ग से, तो किसी को सहज पथ से, तो किसी को और दूसरे प्रकार से जाना पड़ता है। इसी प्रकार की एक साधना-प्रणाली भी है: -- मन को छोड़ दो, उसकी जहाँ इच्छा हो जाने दो, जो इच्छा हो करने दो। इस तरह छोड़ देने पर देखेंगे कि पहले-पहल खराव रास्ते पर जाने पर भी आखिर में वह अच्छे मार्ग पर ही आ जायगा। इसे भूलिएगा नहीं, याद रखिएगा। (कुछ रुककर) भगवान् के बारे में कुछ कहना ही हम लोगों की धृष्टता है। वाणी और मन के सहारे उन्हें प्रकट करना उन्हें छोटा बनाना ही है। महिम्न-स्तोत्र में एक जगह कहा है---

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा सारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

---समुद्र यदि दावात हो, हिमालय यदि स्याही हो, कल्पतरु की शाखा यदि कलम हो, पृथ्वी यदि कागज हो और साक्षात् सरस्वती यदि लिखनेवाली हो, तब भी तुम्हारी महिमा को लिखकर शेष नहीं किया जा सकता। काशीपुर के बगीचे में लीला-संवरण के कुछ पूर्व, ठाकुर अनन्त के बारे में कितनी अद्भुत idea (विचार) देते

थे। एक दिन मैं, गिरीशबाबू, स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द), शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) और निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) वहाँ पर बैठे थे। हम लोग तब छोटे थे। गिरीशबाबू ही हम लोगों के बीच में प्रौढ़ थे, और वे मेधावी भी कितने! पर ठाकुर के मुख से अनन्त के बारे में दो-चार बातें सुनते ही कहने लगे—अब और नहीं, अब धारणा नहीं हो पा रही है। अहा, कितनी अद्भुत बातें थीं वे सब! कहते, शुकदेव बड़े चींटे के समान थे, एक दाना पाकर ही विभोर हो गये। राम, कृष्ण आदि अवतार सच्चिदानन्द-वृक्ष में मानो झुण्ड के झुण्ड फल रहे हैं। ये सब अनन्त के विचार हैं। हम लोग तब बहुत छोटे थे, इतनी धारणा भला कैसे कर पाते? आज बस यहीं तक।

•

मनुष्य को, वह जितना नीचे जाता है जाने दो; एक समय ऐसा अवश्य आयेगा, जब वह ऊपर उठने का सहारा पायेगा और अपने आप में विश्वास करना सीखेगा। पर हमारे लिए यही अच्छा है कि हम इसे पहले से ही जान लें। अपने आप में विश्वास करना सीखने के लिए हम इस प्रकार के कटु अनुभव क्यों करें?

—स्वामी विवेकानन्द

आचार्य रामानुज–जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी सन्तोष

(गतांक से आगे)

(४)

वैष्णवधर्म के स्वनामधन्य महान् सन्त यमुनाचार्य उन दिनों श्रीरंगम मठ के प्रधान थे। संन्यास ग्रहण करने के पूर्व वे राजा थे। यमुनाचार्य के रूप में एक ही आधार में महान् विद्वत्ता तथा परमोच्च साधुता प्रकट हुई थी। एक बार वे अपने शिष्यों के साथ भगवान् वरदराज के दर्शन करने कांची गये। मन्दिर से लौटते हुए एक दिन उन्होंने आचार्य यादवप्रकाश के साथ एक परम सुन्दर युवक को देखा। लक्षणों से वह भक्ति का महान् आधार प्रतीत हुआ। उसे देख यमुनाचार्य विह्वल हो उठे। वैष्णवी भक्ति का इतना बड़ा आधार यहाँ कांची में है! और वह शुष्क अद्वैतदर्शन के आचार्य की सेवा में निरत है!! यमुनाचार्य ने शिष्यों से इस तेजस्वी युवक के विषय में पूछा। उन्होंने बताया कि युवक का नाम रामानुज है तथा उसी ने 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' इस उपनिषद् के मंत्र पर विशिष्टाद्वैतपरक एक छोटी सी टीका लिखी है। यह सुन ऋषि यमुनाचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनके मन में इच्छा हुई कि वह युवक वैष्णव धर्म की दीक्षा ले वैष्णव शास्त्रों का अध्ययन करे। पर अभी कदाचित् उपयुक्त समय नहीं आया था, अतः यमुनाचार्य नें कुछ कहा नहीं और श्रीरंगम लौट गये।

श्रीरंगम लौटकर यमुनाचार्य अस्वस्थ हो गये।

उनकी अस्वस्थता का समाचार सुन कांची के दो ब्राह्मण-भक्त उन्हें 'देखनें श्रीरंगम पहुँचे। यमुनाचार्य ने उन लोगों से रामानुज का समाचार पूछा। उन लोगों ने बताया कि यादवप्रकाश ने रामानुज को पाठशाला से अलग कर दिया है तथा अब रामानुज स्वयं ही शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और भगवान् वरदराज की सेवा के लिए जल लाया करते हैं। यह सुन यमुनाचार्य बड़े प्रसन्न हुए तथा अपने शिष्य महापूर्ण को आज्ञा दी कि तुम कांची जाकर रामानुज को यहाँ ले आओ।

गुरु की आज्ञा पा महापूर्ण कांचीपुरम् के लिए चल पड़े। रामानुज की भी महात्मा यमुनाचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा और भक्ति थी। चार दिन की यात्रा के पश्चात् महापूर्ण कांचीनगरी पहुँचे। रात्रि उन्होंने महात्मा कांचीपूर्ण के आश्रम में बितायी तथा उनसे अपने कांचीपुरम् आने का उद्देश्य बताया। प्रातः-काल महापूर्ण कांचीपूर्ण के साथ उस कुएँ की ओर चले, जहाँ से रामानुज प्रतिदिन वरदराज के लिए जल भरा करते। उन्होंने दूर से ही देखा कि रामानुज कन्धे पर जल का कलश लिए चले आ रहे हैं। कांचीपूर्ण वहाँ से मन्दिर चले गये और महापूर्ण रामानुज की ओर बढ़े। निकट आने पर रामानुज का सात्त्विक सौन्दर्य तथा दिव्य तेज देख महापूर्ण मुग्ध हो उठे। उनका हृदय आनन्द से भर गया आनन्दातिरेक में उनके मुँह से ऋषि यमुनाचार्य-रचित भगवान् विष्णु के प्रशस्ति-श्लोक निर्झर की

भाँति निकलने लगे। रामानुज ने उन दिव्य श्लोकों को सुना, तो उनका हृदय भी आनन्द से भर उठा। उनके मन में इन श्लोकों के रचयिता के सम्बन्ध में जानने की तीव्र लालसा जागी। उन्होंने श्लोक के गायक महापूर्ण को प्रणाम कर पूछा, "भगवन्! आप कौन हैं? किस नगर से आपका आगमन हुआ है? इन दिव्य श्लोकों की रचना किसने की है!" महापूर्ण ने अपना परिचय दिया तथा बताया कि इन श्लोकों की रचना ऋषि यमुनाचार्य ने की है और उन्होंने रामानुज को श्रीरंगम लिवा लाने के लिए ही महापूर्ण को कांची भेजा है।

ऋषि यमुनाचार्य ने उन्हें बुला भेजा है यह सुन रामानुज आनन्द से नाच उठे। वरदराज को जल चढ़ा वे लोग श्रीरंगम के लिए निकल पड़े। चार दिनों की यात्रा के पश्चात् वे श्रीरंगम पहुँचे। कावेरी पार कर वे लोग मठ की ओर जा ही रहे थे कि उन्होंने देखा वहाँ नदी के तट पर नगरवासियों की बड़ी भीड़ लगी है। महापूर्ण ने एक व्यक्ति से पूछा कि नदी-तट पर इतनी भीड़ क्यों है? उसने बताया कि महर्षि यमुनाचार्य ने देह त्याग दी है और उनकी अन्त्येष्टि के लिए यह भीड़ एकत्र है।

यह सुन रामानुज पर मानो वज्रपात हो गया। वे मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े। महापूर्ण भी सिर पीट-कर रोने लगे।

रामानुज को अचेत देख महापूर्ण संयत और शान्त

हुए। उन्होंने रामानुज के मुँह पर जल के छींटे दिये। रामानुज की चेतना लौटी। महापूर्ण ने उन्हें समझाया और दोनों महर्षि यमुनाचार्य के पावन शरीर के अन्तिम दर्शन के लिए गये। रामानुज ने देखा कि महासमाधि में लीन ऋषि यमुनाचार्य के दाहिने हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई हैं। उन्होंने सेवकों से पूछा कि क्या जीवित अवस्था में भी महर्षि की अँगुलियाँ मुड़ी रहती थीं? सेवकों ने बताया कि जीवित अवस्था में ऋषि की अँगुलियाँ सदैव सीधी रहा करती थीं, महासमाधि के समय ही अँगुलियाँ मुड़ गयीं।

रामानुज थोड़ी देर शान्त भाव से खड़े रहे। उन्होंने समझ लिया कि ऋषि की मुड़ी हुई अँगुलियों द्वारा उन्हें कुछ दैवी आदेश प्राप्त हुआ है। रामानुज गहन चिन्तन में डूब गये और घोषणा की— "मैं वैष्णवधर्म में दृढ़ रहकर अज्ञानविमोहित लोगों की रक्षा करूँगा। उन्हें पंच संस्कारों से संस्कारित कर, द्राविड़ वेद की शिक्षा दे भगवत्-शरणागति के लिए प्रेरित करूँगा।"

रामानुज द्वारा यह घोषणा करते ही महर्षि यमुनाचार्य की एक अँगुली सीधी हो गयी।

रामानुज ने दूसरी घोषणा की— "मैं ब्रह्मसूत्रों पर लोककल्याणकारी श्रीभाष्य की रचना करूँगा।"

इस घोषणा के होते ही महर्षि की दूसरी अँगुली सीधी हो गयी। रामानुज की तीसरी प्रतिज्ञा थी— "विष्णुपुराण के रचयिता महर्षि पराशर के प्रति

कृतज्ञता प्रकट करने हेतु किसी योग्य अधिकारी विद्वान् वैष्णव साधक का नामकरण महर्षि के नाम पर करूँगा।"

रामानुज द्वारा तीसरी प्रतिज्ञा करते ही ऋषि यमुनाचार्य की तीसरी अँगुली भी सीधी हो गयी।

वैष्णवधर्म-संस्थापना का यह अद्भुत आदेश ले रामानुज सीधे कांचीपुर लौट आये।

इस घटना के लगभग छह माह पूर्व रामानुज की माता कान्तिमती नश्वर देह छोड़ वैकुण्ठधाम चली गयी थीं। अब रामानुज की पत्नी रक्षाकम्बल ही घर की स्वामिनी थीं।

श्रीरंगम से लौटने के पश्चात् रामानुज अपना अधिकांश समय सन्त कांचीपूर्ण के सत्संग में ही विताया करते। घर-गृहस्थी के कार्यों मे अब उनकी रुचि न रही। पत्नी के प्रति भी वे उदासीन रहते। इससे रक्षाकम्बल को वड़ा दुख होता तथा वे क्रोधित भी रहतीं, पर किसी प्रकार अपना क्रोध छिपाये रखतीं।

इधर रामानुज का मन अशान्त था। एक दिन उन्होंने महात्मा कांचीपूर्ण से स्वयं को दीक्षा देने का वहुत आग्रह किया। कांचीपूर्ण ने उन्हें समझाया कि तुम अधीर न होओ। जैसा मैंने तुमसे कहा है, उसी प्रकार वरदराज की पूजा के लिए जल भरकर लाया करो। उनकी सेवा से यथासमय तुम्हें योग्य गुरु मिल जायेंगे। रामानुज भगवान् वरदराज की सेवा में लगे रहे। सन्त कांचीपूर्ण बालाजी के दर्शन करने तिरुपति चले गये।

वहाँ वे छह महीने रहे। जब कांचीपूर्ण कांचीनगरी लौटे, तब रामानुज ने उनसे निवेदन किया, "महात्मन्! मेरे मन में कुछ शंकाएँ हैं और मेरा मन अशान्त है। आप कृपया भगवान् वरदराज से पूछकर बताइए कि मेरी शंकाओं का निराकरण कैसे होगा।"

महात्मा कांचीपूर्ण ने भगवान् वरदराज से रामानुज के लिए प्रार्थना की। वे एक सिद्ध महात्मा थे। भगवान् वरदराज ने कांचीपूर्ण से कहा, "तुम रामानुज से कहो कि वह श्रीरंगम जाकर महात्मा महापूर्ण से दीक्षा ग्रहण करे।" कांचीपूर्ण ने रामानुज को भगवान् वरदराज की आज्ञा सुना दी। रामानुज तुरन्त ही श्रीरंगम के लिए चलपड़े।

तिरुवरंग श्रीरंगम मठ के प्रधान थे। उन्होंने अनुभव किया कि महर्षि यमुनाचार्य की महासमाधि के पश्चात् शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या करनेवाला कोई अधिकारी विद्वान् तथा साधक मठ में नहीं है। उन्हें स्मरण हो आया कि रामानुज एक ऐसे अधिकारी साधक हैं, साथ ही वे गहरे विद्वान् भी हैं। पर रामानुज तो कांचीपुरम् में रहते थे और मठ था श्रीरंगम में, अतः उन्हें श्रीरंगम लाना आवश्यक था। तिरुवरंग ने अपना मन्तव्य भक्तों के सामने रखा। सभी भक्तों ने एक स्वर से उनका समर्थन किया। तिरुवरंग ने महापूर्ण को आज्ञा दी कि तुम कांचीपुरम् जाकर रामानुज को वैष्णवधर्म की दीक्षा दो तथा उन्हें श्रीरंगम ले आओ। यदि रामानुज तुरन्त आने को तैयार न हों, तो तुम भी कांची में रुक जाना और यथासमय

रामानुज को साथ लेकर श्रीरंगम लौटना।

महापूर्ण अपनी पत्नी के साथ कांची के लिए रवाना हुए। चार दिनों की यात्रा के पश्चात् वे मदुरान्तकम् नगर में पहुँचे। वहाँ विष्णुमन्दिर के सामने एक तालाव के किनारे वे विश्राम कर रहे थे कि इतने में अकस्मात् रामानुज वहाँ आये और उनके चरणों में प्रणाम किया। महापूर्ण आश्चर्य में डूब गये। आनन्दविभोर हो उन्होंने रामानुज को छाती से लगा लिया। महापूर्ण ने रामानुज से वहाँ आने का कारण पूछा। रामानुज ने निवेदन किया, "भगवन्! आपसे दीक्षा ग्रहण कर आपके चरणों में आश्रय पाने के लिए मैं श्रीरंगम ही जा रहा था। भगवान् की कृपा से यहीं आपके दर्शन हो गये। अब आप दीक्षा देकर मुझे कृतार्थ करें।"

महापूर्ण बड़े प्रसन्न हुए तथा उन्होंने रामानुज को विधिवत् दीक्षा दी। दीक्षा के पश्चात् रामानुज अपने गुरु तथा गुरुपत्नी को आदरपूर्वक अपने घर कांचीपुरम् ले आये। वहाँ उन्होंने अपना आधा घर गुरु के लिए खाली कर दिया। वे बड़ी श्रद्धा से गुरु की सेवा करते तथा उनके चरणों में बैठकर तमिल प्रबन्धों का अध्ययन करते।

रामानुज की प्रार्थना पर महापूर्ण ने उनकी पत्नी रक्षाकम्बल को भी दीक्षा दे दी।

रामानुज की पत्नी यद्यपि सुन्दरी थीं, तथापि उनका दाम्पत्य जीवन दुखी था। रक्षाकम्बल में रामानुज की तरह उदारता और सरलता न थी, न ही ईश्वर के प्रति

उनका वैसा विश्वास और भक्ति थी। वे रामानुज के जीवन में सहायक न होकर बाधक थीं।

रामानुज के गुरु महापूर्ण को उनके घर रहते हुए छह महीने बीत चुके थे। इस बीच रामानुज ने अपने गुरु से तमिल प्रबन्धों के लगभग चार हजार पद्यों का अध्ययन कर लिया। अध्ययन की समाप्ति पर एक दिन रामानुज नें निश्चय किया कि वे गुरुपत्नी की षोड़शोपचार पूजा करेंगे। ऐसा निश्चय कर वे पूजा की सामग्री लेने बाजार गये। उनके गुरु भी किसी काम से नगर में चले गये। घर में गुरुपत्नी तथा रामानुज की पत्नी ही रह गयी थीं। कुएँ से जल भरने के छोटे से कारण को लेकर रक्षाकम्बल ने गुरुपत्नी से खूब झगड़ा कर उन्हें तिरस्कृत किया। गुरुपत्नी दुखित हो रोती हुई घर के भीतर चली गयीं। थोड़ी देर बाद महापूर्ण लौटे। पत्नी को रोती देख उन्होंने रोने का कारण पूछा। पत्नी ने सारी घटना कह सुनायी। महापूर्ण ने निर्विकार भाव से सब सुना और कहा, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है, भगवान् विष्णु की यह इच्छा है कि हम उनके पास श्रीरंगम लौट चलें।" ऐसा कह वे तुरन्त श्रीरंगम के लिए रवाना हो गये।

कुछ देर पश्चात् पूजा की सामग्री ले रामानुज घर लौटे। लौटकर देखा कि गुरु तथा गुरुपत्नी का कहीं कोई पता नहीं। वे गुरुदम्पति को ढूँढ़ ही रहे थे कि एक पड़ोसी ने उन्हें बताया कि महापूर्ण तो अपनी पत्नी के

साथ श्रीरंगम के लिए रवाना हो गये हैं। यह समाचार सुन रामानुज को आघात सा लगा। वे गुरु के अकस्मात् चले जाने का कारण पूछने के लिए पत्नी के पास गये। पूछे जाने पर रक्षाकम्बल ने गुरुपत्नी के अनेक दोष वताये तथा उनसे झगड़ने की बात कही। सुनकर रामानुज बड़े दुखी हुए। उन्हें पत्नी पर क्रोध भी आया। उसे धिक्कारते हुए पूजा की सब सामग्री ले रामानुज वरदराज के मन्दिर की ओर चले गये।

थोड़ी देर पश्चात् जब रामानुज मन्दिर से लौट रहे थे, उन्होंने देखा कि उसी ओर एक ब्राह्मण चला आ रहा है। पास आने पर रामानुज ने ब्राह्मण से पूछा, "आपने भोजन किया है या नहीं?" ब्राह्मण के 'ना' कहने पर वे उसे एक ओर ले गये तथा उसके हाथ में कुछ फल-मिठाइयाँ और नये वस्त्र दिये। साथ ही एक पत्र भी दिया और कहा, "आप मेरे घर जाकर ये वस्तुएँ मेरी पत्नी को दे दीजिए और कहिए कि आपके पिता नें यह पत्र भेजा है। वह आपका स्वागत करेगी तथा तृप्तिपूर्वक भोजन करायेगी।"

ब्राह्मण रामानुज के घर गया और उनकी पत्नी को वह पत्र तथा अन्य वस्तुएँ दीं। थोड़ी देर में रामानुज भी घर लौटे। पत्नी ने उन्हें अपने पिता का पत्र दिखाया तथा मायके जाने की इच्छा व्यक्त की। रामानुज ने पत्नी से कहा, "अभी तुम अकेली अपने पिता के घर चली जाओ। मैं कुछ आवश्यक कार्यों में व्यस्त

हूँ। अभी तुम्हारे साथ न जा सकूँगा।" रक्षाकम्बल पति की बात मानकर अकेली ही मायके चली गयीं।

रामानुज के हृदय में वैराग्य की अग्नि तो सुलग ही रही थी। पत्नी के मायके जाते ही वह ज्वाला धधक उठी। उन्होंने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया। उधर पत्नी पिता के घर गयीं और इधर रामानुज वरद-राज के मन्दिर में पहुँचे। भगवान् के चरणों में सर्वस्व न्यौछावर कर उन्होंने यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की। भगवान् वरदराज को ही संन्यास-गुरु स्वीकार कर, संसार की समस्त कामना-वासना की आहुति दे हवन किया और संन्यास ग्रहण कर लिया। मुण्डित मस्तक गैरिक वसनधारी रामानुज सूर्य के समान दीप्तिमान हो उठे। उनके महान् त्याग एवं तीव्र वैराग्य को देख महात्मा कांचीपूर्ण ने उन्हें 'यतिराज' की उपाधि से विभूषित किया।

(५)

रामानुज के संन्यास का समाचार दावानल की भाँति चारों ओर फैल गया। वे अत्यन्त रूपवान् थे, मानो काम-देव के अवतार हों। उनकी पत्नी भी अनुपम रूपवती थीं। रामानुज अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। फिर भी तरुण अवस्था में ही सब कुछ छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया था। दूर दूर से लोग उनके दर्शन करने आते। इसी समय दासरथी और कुरेश नामक दो बड़े प्रतिभावान् एवं विद्वान् युवकों ने यतिराज का शिष्यत्व ग्रहण किया। रामानुज शिष्यों के साथ मन्दिर के पास मठ में रह शास्त्र-चर्चा

तथा स्वाध्याय में निमग्न रहते ।

इधर रामानुज की हत्या के कुटिल षड़यंत्र के बाद से यादवप्रकाश का मन बड़ा अशान्त एवं उद्विग्न रहता था । अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय-चिन्तन किसी भी कर्म से उन्हें शान्ति न मिल पा रही थी । वे एक दिन इसी प्रकार विक्षिप्त मन से घूम रहे थे कि उनकी दृष्टि महात्मा कांचीपूर्ण पर पड़ी । उन्होंने कांचीपूर्ण से कहा, "महात्मन् ! आप तो भगवान् वरदराज के भक्त हैं । आपके मुख से भगवान् वरदराज ही भक्तों को उपदेश देते हैं । मेरा मन बड़ा अशान्त रहता है । कृपया मुझे वह उपाय बतलाइए, जिससे मेरे मन को शान्ति मिले ।"

महात्मा कांचीपूर्ण ने कहा, "यादवप्रकाश ! तुम मुझसे कल मिलना । भगवान् वरदराज से पूछकर मैं तुम्हें उपाय बतलाऊँगा ।"

उसी दिन यादवप्रकाश की वृद्धा जननी भी वरदराज के दर्शन करने गयीं । जब वे लौट रही थीं, तो उनकी दृष्टि अग्निपुंज के समान तेजस्वी युवक-संन्यासी यतिराज रामानुज पर पड़ी । सहज भाव से आकृष्ट हो वे यतिराज के पास गयीं और उनके भक्ति एवं पाण्डित्यपूर्ण उपदेश सुने । वे बड़ी प्रभावित और सन्तुष्ट हुईं ।

उन्हें अपने पुत्र की मनोदशा का आभास था ही । उन्होंने अनुभव किया कि यदि यादव रामानुज की शरण में आये, तो उसे शान्ति मिल सकती है । इससे उसका परम कल्याण होगा । घर लौटकर उन्होंने यादवप्रकाश से

अपने मन की बात कही। उसी रात्रि यादव ने स्वप्न में देखा कि कोई दैवी पुरुष उससे कह रहा है कि तुम जाकर रामानुज का शिष्यत्व ग्रहण करो।

दूसरे दिन प्रातःकाल यादव महात्मा कांचीपूर्ण के पास गये। महात्मा कांचीपूर्ण ने भी रामानुज के दिव्य गुणों की प्रशंसा की और कहा, "तुम रामानुज के पास जाकर उपदेश ग्रहण करो। इससे तुम्हारा मानसिक सन्ताप दूर होगा और तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

जननी का आग्रह, स्वप्न की स्मृति तथा कांचीपूर्ण के सत्परामर्श का प्रभाव यादवप्रकाश के मन पर पड़ा। उन्होंने सोचा एक बार मैं स्वयं जाकर रामानुज से भेंट कर शास्त्र-चर्चा करूँ। ऐसा निश्चय कर वे रामानुज के पास पहुँचे। अपने पूर्व-आचार्य को आया देख रामानुज ने उन्हें सम्मान दिया और श्रद्धापूर्वक बिठाया। रामानुज की श्रद्धा और सरलता से यादवप्रकाश बड़े प्रभावित हुए। आसन ग्रहण कर यादव ने कहा, "रामानुज! तुमने सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया है। तुम उसकी उपासना और भक्ति में विश्वास करते हो। क्या तुम मुझे सगुण ब्रह्म तथा उसकी उपासना आदि के सम्बन्ध में शास्त्रों के प्रमाण बता सकते हो?"

उत्तर में रामानुज ने कहा, 'आचार्य! मेरा यह शिष्य कुरेश शास्त्रों में निष्णात है। यह आपके सम्मुख शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करेगा।"

यादवप्रकाश ने प्रश्न भरी दृष्टि से कुरेश की ओर

देखा। कुरेश ने श्रुति, स्मृति, पुराण आदि से अनेक श्लोक उद्धृत कर यादव के सामने शास्त्रों के बहुत से प्रमाण रखे। कुरेश के मुख से शास्त्रवाणी निर्झर की भाँति प्रवाहित हो रही थी। यादव उसकी तीव्र मेधा एवं प्रकाण्ड विद्वत्ता के सामने हतप्रभ हो गये। ऐसे विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को रामानुज की शरण में देख यादव की आँखें खुल गयीं। उनका पाण्डित्याभिमान चूर-चूर हो गया। सद्बुद्धि जागी। विवेक लौटा। वे रामानुज के चरणों में गिर पड़े। उनके चरण पकड़ आँसुओं से उन्हें धोते हुए यादवप्रकाश ने यतिराज रामानुज से अपने अपराधों की क्षमा माँगी तथा चरणों में स्थान देकर कृपा करने की भिक्षा चाही।

करुणामूर्ति रामानुज ने यादवप्रकाश को गले से लगा लिया, उन्हें सान्त्वना दी तथा वैष्णवधर्म में दीक्षित कर उसी दिन संन्यास भी दे दिया। यादव अब अपने तरुण गुरु के पास ही रहने लगे। रामानुज ने उन्हें वैष्णवधर्म पर एक ग्रन्थ लिखने का आदेश दिया। गुरु-आज्ञा का पालन कर यादवप्रकाश ने 'यतिधर्म-समुच्चय' नाम का एक उत्तम ग्रन्थ लिखा और उसे गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया। यादव अब बहुत वृद्ध हो गये थे। गुरु की कृपा से उनका मन शान्त हो प्रभु के पावन चरणों में निमग्न हो गया था। लगभग ८० वर्ष की अवस्था में उन्होंने देह छोड़ दी।

(६)

महर्षि यमुनाचार्य की महासमाधि के पश्चात् श्रीरंगम मठ में वस्तुत: कोई नेता नहीं था। यद्यपि महापूर्ण तथा

वारारंग जैसे उनके विद्वान् शिष्य मठ में थे, तथापि यमुना-चार्य के समान शास्त्र-मर्मज्ञ एवं भगवद्भक्त का अभाव सभी को खल रहा था। अपने गुरु के श्रीमुख से इन लोगों ने सुन रखा था कि कांचीपुरम् के रामानुज अवतारी पुरुष हैं। महापूर्ण ने तो रामानुज के साथ छह माह रहकर उनकी अद्वितीय प्रतिभा को देख भी लिया था। अतः उन्होंने निश्चय किया कि रामानुज ही वह अधिकारी हैं, जो महर्षि यमुनाचार्य के स्थान की पूर्ति कर सकते हैं। अब रामानुज ने संन्यास भी ग्रहण कर लिया था। रामानुज के दीक्षा-गुरु महापूर्ण ने अपने गुरुभाई वारारंग को रामानुज को श्रीरंगम लिवा लाने के लिए कांची भेजा। इस बार रामा-नुज भगवान् की इच्छा जानकर श्रीरंगम चले आये। यहाँ उनके गुरु महापूर्ण थे ही। यतिराज ने अपने गुरु से और भी अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया।

श्रीरंगम से थोड़ी दूर पर गोष्टीपुर नाम का एक सम्पन्न नगर था। वहाँ गोष्टीपूर्ण नाम के एक सिद्ध विद्वान् महात्मा रहा करते थे। एक दिन महापूर्ण ने रामानुज से कहा, "वत्स! यदि तुम वैष्णवधर्म का महामंत्र तथा उसका गूढ़ार्थ जानना चाहते हो, तो सन्त गोष्टीपूर्ण की शरण में जाओ। मैं यह कह सकता हूँ कि उनके समान सिद्ध सन्त इस क्षेत्र में दूसरा नहीं है।"

गुरु की बात सुन रामानुज तुरन्त गोष्टीपुर के लिए चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने गोष्टीपूर्ण के दर्शन किये तथा कृपापूर्वक महामंत्र देने की प्रार्थना की। सन्त ने

रामानुज की ओर देखा और कहा, "किसी और दिन आओ ।" रामानुज दो दिन पश्चात् पुनः गये । सन्त ने पुनः लौटा दिया । इस प्रकार गोष्टीपूर्ण ने रामानुज को अठारह बार निराश लौटा दिया । अन्तिम बार रामानुज दुख से कातर हो रोने लगे । यह देख गोष्टीपूर्ण को दया आ गयी । उन्होंने रामानुज को बुलाया और कहा, "देखो, भगवान् विष्णु ही इस महामंत्र की महिमा जानते हैं । कलियुग में तुम्हें छोड़कर अन्य कोई व्यक्ति इस मंत्र को पाने का अधिकारी नहीं है, क्योंकि जो भी इस मंत्र को सुनेगा, उसका इहलोक और परलोक दोनों सध जायेंगे तथा मरणोपरान्त उसे वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी । अतः तुम किसी अन्य व्यक्ति को यह महामंत्र न देना ।"

यह कह गोष्टीपूर्ण ने रामानुज को वैष्णव महामंत्र प्रदान किया और उसका गूढ़ार्थ बताया । मंत्र सुनते ही रामानुज को रोमांच हो आया और उनका हृदय एक दैवी आनन्द से भर गया । समस्त पृथ्वी उन्हें साक्षात् वैकुण्ठधाम लगने लगी । वे आनन्दविभोर हो बार बार मंत्रदाता गुरु के चरणों में प्रणाम करने लगे । थोड़ी देर पश्चात् अपने भावों को संयत कर उन्होंने गुरु से आज्ञा ली और श्रीरंगम की ओर चल पड़े ।

गोष्टीपुर में एक विशाल विष्णुमन्दिर था । मार्ग से जाते हुए ज्योंही रामानुज की दृष्टि मन्दिर पर पड़ी कि उनके हृदय के भाव बदल गये । उन्हें लगा—"संसार के सहस्र-सहस्र नर-नारी भवरोग से पीड़ित हो अपार कष्ट

पा रहे हैं। मैंने गुरु से जो महामंत्र पाया है, वह तो भवरोग की अमोघ औषधि है। क्यों न मैं उसे सर्व-साधारण को बाँटकर उन्हें भवरोग-यंत्रणा से मुक्त कर दूँ? सर्वसाधारण को महामंत्र देने में गुरु की आज्ञा का उल्लंघन अवश्य होगा और उसके परिणामस्वरूप मुझे नरक में जाना होगा! पर यदि उससे किसी का कल्याण हो, तो एक बार की कौन कहे, मैं सहस्र सहस्र बार नरक में जाने को प्रस्तुत हूँ!! मैं जनसाधारण को महामंत्र अवश्य दूँगा!!!"

ऐसा निश्चय कर रामानुज ने गोष्टीपुर नगर में जोर जोर से घोषणा की—"सभी लोग विष्णुमन्दिर में चलो। मैं तुम्हें ऐसा अमूल्य रत्न दूँगा, जिससे तुम लोग इहलोक और परलोक के सभी दुखों से मुक्त हो महान् आनन्द के अधिकारी हो जाओगे!"

रामानुज की यह घोषणा दावानल की भाँति नगर में फैल गयी। रामानुज की महानता और विद्वत्ता से नगरवासी परिचित थे ही। सैकड़ों की संख्या में नर-नारी मन्दिर के विशाल प्रांगण में एकत्र हो गये। अपार जनसमूह को देख रामानुज का हृदय गद्गद हो उठा। वे मन्दिर के ऊपर चढ़ गये तथा सबको सम्बोधित कर ऊँची आवाज में तीन बार महामंत्र का उच्चारण किया तथा जनसमूह से उसकी आवृत्ति करवायी। महामंत्र का प्रभाव भी महान् हुआ। उपस्थित सभी व्यक्तियों का हृदय आनन्द से भर उठा। सैकड़ों लोगों को दिव्यानन्द

से पूर्ण देख रामानुज आनन्दविभोर हो नाचने लगे।

इधर रामानुज के गुरु गोष्टीपूर्ण ने जब यह समाचार सुना, तो वे क्रोध से आगबबूला हो उठे। रामानुज मन्दिर से उतरकर गुरु के चरणों की पूजा करने उनके निवासस्थान पर पहुँचे। उन्हें देखते ही क्रोध से जलते गोष्टीपूर्ण ने कहा, "रे मूर्ख ! दूर हो मेरी आँखों के सामने से। तेरे मुँह देखने के पाप से मुझे दूषित न कर। तुझ जैसे विश्वासघाती को महामंत्र देकर मैंने बड़ी भूल की। क्या तू नहीं जानता कि सार्वजनिक रूप से महामंत्र देने के कारण तुझे अनन्त काल तक नरक-यातना भोगनी पड़ेगी ?"

गुरु के चरणों में प्रणाम कर रामानुज ने अत्यन्त नम्रता से निवेदन किया, "भगवन् ! मैं यह भलीभाँति जानता हूँ कि सार्वजनिक रूप से महामंत्र देने के कारण मुझे नरक-यंत्रणा भोगनी पड़ेगी। किन्तु गुरुदेव ! आपने कहा था कि जो भी इस महामंत्र को सुनेगा, उसका इह-लोक और परलोक दोनों सध जायेंगे; उसका जीवन धन्य हो जायेगा। प्रभो ! मुझ एक दास के नरक भोगने से यदि सहस्रों व्यक्ति परमधाम के अधिकारी होते हैं, तो मैं सहस्र सहस्र बार नरक भोगने को प्रस्तुत हूँ।"

रामानुज की देवदुर्लभ करुणा और उदारता देख गोष्टीपूर्ण का क्रोध अग्नि से उछलकर गंगा में गिरनेवाली चिनगारी की भाँति तुरन्त शान्त हो गया। वे हाथ जोड़ विनीत भाव से रामानुज के सम्मुख

खड़े हो गये और बोले, "रामानुज ! आज से तुम ही मेरे गुरु हो। तुम्हारी करुणा और उदारता अद्वितीय है। निश्चय ही तुम्हारा जन्म विष्णु के अंश से हुआ है और संसार का दुख दूर करने के लिए ही तुम इस धराधाम में आये हो। मेरे अपराध क्षमा करो !"

नम्रता की मूर्ति रामानुज ने गुरु के चरणों में प्रणाम कर कहा, "गुरुदेव ! आप तो मेरे शाश्वत गुरु हैं। आप कृपया ऐसा न कहें। मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं भक्त और भगवान् की सेवा कर सकूं।"

गोष्टीपूर्ण नें यतिराज रामानुज को हृदय से लगा लिया तथा अपने पुत्र सौम्यनारायण को उनका शिष्य बना दिया।

(क्रमशः)

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

चित्रकूट में गुरु वसिष्ठ ने भगवान् राम से कहा, "राघवेन्द्र ! अब इस समस्या का निर्णय हो जाना चाहिए कि तुम अयोध्या लौट चल रहे हो या नहीं, अथवा तुमने वन में ही रहने का निश्चय कर लिया है।"

भगवान् राम बोले, "गुरुदेव ! समस्या तो बड़ी कठिन है। और जब समस्या का निर्णय नहीं हो पाता है, तब उसे पंच-निर्णय पर छोड़ दिया जाता है। इसलिए मैं और भरत दोनों मिलकर इस कार्य को पंचों के निर्णय पर सौंप देते हैं। आप दोनों पंच बनकर निर्णय दे दीजिए।"

"दोनों कौन ?"

"आप और राजा श्री जनक––

राउर राय रजायसु होई ।
राउरि सपथ सही सिर सोई ॥ २/२९५/८

––आप दोनों की जो भी आज्ञा होगी, मैं आपकी शपथ लेकर कहता हूँ, हम दोनों को शिरोधार्य होगी।"

भगवान् राम गुरु वसिष्ठ को यह भी बता देते हैं कि मेरी ओर के पंच आप हैं तथा भरत की ओर के पंच महाराज श्री जनक। प्रभु ने ऐसा क्यों किया ? इसलिए कि वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं तथा गुरु वसिष्ठ भी धर्म और मर्यादा के बड़े समर्थक हैं। अतः भगवान् ने उन्हें अपना पंच बनाया। दूसरी ओर वे जानते हैं कि राजा जनक और श्री भरत

दोनों की मनोवृत्ति एक प्रकार की है। कैसे ?--राजा जनक के लिए 'मानस' में एक बात कही गयी है--

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू।
जाहि राम पद गूढ़ सनेहू ।। १/१६/१

--उनका भगवान् राम के चरणों में गूढ़ प्रेम है। और भरतजी के बारे में भी कहा गया है--

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।
रहें नीक मोहि लागत नाहीं ।। २/२८३/४

दोनों का ही भगवान् राम के प्रति गूढ़ प्रेम है। दोनों के चरित्र में और भी साम्य है। इसलिए भगवान् राजा जनक को श्री भरत का पंच चुनते हैं। होना तो यह चाहिए था कि प्रभु अपना पंच चुनते और श्री भरत अपना। पर प्रभु ही भरतजी के लिए पंच का चुनाव कर देते हैं और भरतजी की ओर देखकर मानो कहते हैं--'भरत तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं ?' भरतजी मन ही मन प्रसन्न हैं। उन्हें भला क्यों आपत्ति होने लगी ? वे तो चाहते ही हैं कि प्रभु स्वयं यह कार्य करें।

जब प्रभु ने गुरु वसिष्ठ और राजा जनक के समक्ष शपथ के शब्द कहे, तो वे दोनों संकोच में पड़ गये। यह तो गुरुतर भार सिर पर आ पड़ा। व्यक्ति दो होने से निर्णय में मतभेद भी हो सकता है। तब क्या किया जाय ? निर्णय देने का कार्य एक तीसरे व्यक्ति पर छोड़ देना चाहिए। अब यह तीसरा व्यक्ति कौन हो ? गोस्वामीजी 'मानस' में (२/२९६) लिखते हैं--

राम सपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत ।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत ।।

--सब भरतजी की ओर ताकते हैं और गुरु वसिष्ठ तथा राजा जनक कह उठते हैं--"भरत ! अब निर्णय तुम्हीं दे दो, तो अच्छा हो ।" जब यही बात वसिष्ठजी ने भगवान् राम से कही थी, तो उन्होंने उत्तर दिया था--"गुरुदेव ! जब आप मुझसे बोलने को कहते हैं, तो मैं संकोच में पड़ जाता हूँ--

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू ।
मोर कहब सब भाँति भदेसू ।। २/२९५/७

--जहाँ आप और महाराज जनक विद्यमान हों, वहाँ तो मेरा कुछ भी कहना बड़ा भद्दा लगेगा ।" और प्रभु संकोच कर जाते हैं । इसलिए जब राजा जनक और वसिष्ठजी ने श्री भरत से यह बात कही, तो लोगों को लगा कि भरतजी साफ अस्वीकार कर जायँगे । जहाँ बोलने में भगवान् को संकोच होता है, वहाँ भरतजी जैसे विनम्र व्यक्ति क्योंकर बोलेंगे ? पर आश्चर्य की बात ! लोगों ने देखा, श्री भरत बोलने के लिए खड़े हो गये । जो भरत इतने नम्र हैं कि अपने बारे में कहते हैं--'मोहि समान को पाप निवासू' (२/१७८/३), वे ही अभी इतने आत्मविश्वासी दिखायी दे रहे हैं कि सब चकित रह जाते हैं । यही भरतजी की विलक्षणता है । अब उन्होंने बोलने के पहले क्या किया यह ध्यान देने योग्य है । उन्होंने नेत्र मूँद लिये और नेत्र मूँदकर क्या किया ? गोस्वामीजी लिखते हैं--

हियँ सुमिरी सारदा सुहाई ।
मानस तें मुख पंकज आई ॥
विमल बिबेक धरम नय साली ।
भरत भारती मंजु मराली ॥ २/२९६/७-८

—उन्होंनें हृदय में सरस्वती का स्मरण किया । वे उनके मानस से निकलकर मुखारविन्द में आ विराजीं ।

गोस्वामीजी ने यहाँ पर एक अद्‌भुत बात कह दी । उन्हें जो कहना था, उसे एक शब्द के परिवर्तन द्वारा कह दिया । क्या ? जब भरतजी ने सरस्वती का स्मरण किया, तो सरस्वती आयीं जरूर, पर वहाँ से नहीं आयीं, जहाँ से अब तक 'मानस' की परम्परा के अनुरूप आती रही हैं । अब तक 'मानस' की परम्परा यह रही है कि सरस्वती ब्रह्मा के लोक में रहती हैं और जब कोई उन्हें पुकारता है, तो वे —

भगति हेतु विधि भवन बिहाई ।
सुमिरत सारद आवति धाई ॥ १/१०/४

—उसकी भक्ति देख ब्रह्मलोक को छोड़कर दौड़ी चली आती हैं । गोस्वामीजी कहते हैं कि जब सरस्वती पधारें, तो कवि का कर्तव्य है कि पहले उन्हें विश्राम दें । विश्राम देने के लिए श्रेष्ठ उपाय क्या है ?—

राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ ।
सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ ॥ १/१०/५

—यह कि उन्हें भगवान् राम के चरितरूपी सरोवर में स्नान कराए । अन्य करोड़ों उपाय से भी यह थकावट दूर

नहीं होगी। यदि कोई सरस्वती को बुलाकर उनका उपयोग संसारी लोगों के गुणगान में करता है, तब तो यह थकी-माँदी सरस्वतीजी के लिए सिर पीटना ही होगा--

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना ।। १/१० /७

स्वर तो सिर पीटने से भी निकलता है और वाद्य से भी। पर वाद्य के स्वर से आनन्द की अनुभूति होती है, जबकि सिर पीटने से दुःख की। इसी प्रकार जब कोई कविता का प्रयोग प्रभु के गुणगान में करता है, तभी उसकी सार्थकता है, अन्यथा वह सरस्वतीजी का सिर धुनना ही होगा। अस्तु। अयोध्याकाण्ड में भी यही बात कही गयी है कि सरस्वती देवताओं द्वारा बुलाये जाने पर ब्रह्मलोक से आयीं--

हरषि हृदयँ दसरथ पुर आई।
जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई ।। २/११/८

तीसरा प्रसंग आता है, जब देवतागण सरस्वतीजी को बुलाकर कहते हैं कि आप भरत की बुद्धि को बदल दीजिए। सरस्वती इसे अस्वीकार कर देती हैं और ब्रह्म-लोक चली जाती हैं--

अस कहि सारद गइ बिधि लोका। २/२९४/८

इन सभी प्रसंगों में हम पाते हैं कि जब भी सरस्वती आयीं, वे ब्रह्मा के लोक से आयीं। पर जब यहाँ भरतजी ने सरस्वती को बुलाया, तो वे ब्रह्मा के लोक से नहीं आयीं। वे भरतजी के हृदय से निकलकर उनके मुख पर

आ विराजीं । गोस्वामीजी 'मानस' में सरस्वती के दो रूप दिखाते हैं । एक सरस्वती वे हैं, जो ब्रह्मा की शक्ति हैं तथा जो ब्रह्मा के लोक में निवास करती हैं । ये चेतन सरस्वती हैं । और दूसरी कौन ?—

सारद दारुनारि सम स्वामी ।
रामु सूत्रधर अंतरजामी ॥ १/१०४/५

—दूसरी वे हैं, जो कठपुतली के समान हैं । ये ब्रह्मा द्वारा संचालित नहीं होतीं । इनके सूत्रधार भगवान् राम हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि इनमें श्रेष्ठ कौन ? स्पष्ट है कि जो चेतन होगा, वह कठपुतली की तुलना में, एक जड़ की तुलना में श्रेष्ठ होगा । पर यहाँ बात ऐसी नहीं । 'मानस' में प्रसंग आता है कि भगवान् दो तरह से नचाते हैं । एक तो यह—

उमा दारु जोषित की नाईं ।
सबहि नचावत रामु गोसाईं ॥ ४/१०/७

—जैसे सूत्रकार कठपुतली को नचाता है, वैसे ही भगवान् सवको नचाते हैं । और दूसरा—

नट मरकट इव सबहि नचावत । ४/६/२४

—जैसे नट बन्दर को नचाता है, वैसे ही प्रभु सवको नचाते हैं । नाचते दोनों हैं । नट के संकेत पर बन्दर नाचता है और सूत्रधार के संकेत पर कठपुतली । पर दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है । बन्दर नट के संकेत पर उतना ही नाच पाता है, जितना उसने सीखा है और नाचने के वाद वह थक जाता है । वह पुरस्कार भी पाता

है, पर इस कठपुतली के नाच में बड़ी विचित्रता है। संसार के जितने भी नाच हैं, उनमें नाचनेवाला थकता है। पर कठपुतली का नाच ऐसा है, जिसमें नाचनेवाला नहीं, नचानेवाला थकता है। फिर, कठपुतली के नाच को देख किसी को कठपुतली की विशेषता नहीं दिखायी पड़ती। विशेषता तो सूत्रधार की होती है। लोग प्रशंसा सूत्रधार की करते हैं--कैसा बढ़िया है सूत्रधार! कठपुतली को कैसा सुन्दर नचा रहा है! लोग देखते तो हैं कठपुतली को, पर उन्हें ध्यान आता है सूत्रधार का। और थकान आयगी भी तो सूत्रधार को ही, कठपुतली को नहीं। यही सूक्ष्म अन्तर है। अगर ब्रह्मलोक की सरस्वती को बुलाइएगा, तो उसकी थकान को मिटाने का भी प्रवन्ध करना पड़ेगा। पर इन कठपुतली सरस्वती में थकान की बात ही नहीं। इनके सूत्रधार हैं भगवान् राम। इसीलिए जब गुरु वसिष्ठ और जनकजी भरतजी से कहते हैं कि "भरत, बोलो," तो भरतजी इन्हीं सरस्वती का आह्वान करते हैं। वे नेत्र मूँद लेते हैं और अपने हृदय में प्रवेश करते हैं। वहाँ पर कौन हैं?--

भरत हृदयँ सिय राम निवासू। २/२९४/७

--वहाँ विराजित हैं श्री सीता राम। और सरस्वती क्या हैं? उनकी कठपुतली। एक भगवान् राम तो बाहर बैठे हुए हैं और दूसरे बैठे हैं उनके हृदय में। भरतजी ने हृदय में प्रवेश किया और प्रभु से बोले, 'प्रभो! आप बाहर से

नहीं बोलना चाहते हैं--यही वात है न? ठीक है, अन्दर से बोल दीजिए। कठपुतली सरस्वती के द्वारा कहला दीजिए। मुख मेरा हो और वाणी वही हो, जो आप कहलाना चाहें। मैं इतना ही चाहता हूँ कि कोई आपके ऊपर बोलने का कलंक न लगाये। भले ही लोग कहें कि भरत अशिष्ट है, पर आप जो चाहते है, वही कहला दीजिए। यही भरत-चरित्र की विशेषता है। जहाँ भी भरत बोलते हैं, यन्त्र की नाईं बोलते हैं। वस्तुतः श्री भरत नहीं बोलते, बोलती हैं भगवान् राम के संकेत-सूत्रों द्वारा नचायी जानेवाली सरस्वती। श्री भरत ने अपने व्यक्तित्व को एकदम मिटा डाला है। लोग समझते हैं कि श्री भरत बोल रहे हैं, पर यथार्थ में प्रभु ही बोलते हैं। क्या यंत्र भी कभी बोलता है? इस यंत्र के माध्यम से, माइक के माध्यम से दूर दूर तक कथा जा रही है। कितनी आवश्यकता है इस यन्त्र की! यदि यह विगड़ जाय, तो वक्ता का बोलना बन्द हो जाय। कितनी उपयोगिता है इसकी! पर इसका महत्त्व इसीलिए है कि यह स्वयं अपनी कथा नहीं कहता। यदि वह अपनी कथा कहने लगे, जैसा कि कभी कभी होता है (जब यह बिगड़ जाता है, तो अपना स्वर प्रकट करने लगता है), तब हमें कितना बुरा लगता है। जब भी वह अपने आप को प्रकट करने लगता है कि मैं भी कुछ हूँ, तो हमें बुरा लगता है। उसकी विशेषता तभी तक है, जब तक वह मूक रहकर वक्ता की बात प्रकट करता है। यही बात

वक्ता के साथ भी है। वक्ता यदि अपने ही बारे में बोलता रहे, तो कितना अशोभन लगेगा। पर यदि वह अपने को यंत्र की भाँति मूक रखकर भगवान् को अपनी वाणी में व्यक्त करे, सरस्वती को अपनी वाणी में अभिव्यक्त होनें दे, तो उसकी वाणी कृतार्थ होगी। श्री भरत के चरित्र का चमत्कार यही है कि वे चमत्कार-शून्य हैं। अपने आप को पूर्ण रूप से मिटाकर उन्होंने भगवान् राम को अपने में प्रकट होने दिया है। बाहर से देखनेवाले यह जान ही नहीं पाते कि अन्तरंग दृश्य में प्रभु और श्री भरत में क्या वार्तालाप हो रहा है। उन्हें तो यही दिखायी देता है कि भरत ही बोल रहे हैं। पर वास्तव में प्रभु भरतजी के माध्यम से बोलते हैं। प्रभु चाहते हैं कि प्रारम्भ से भरतजी के बारे में जो भ्रान्ति है, उसका निराकरण हो जाय और उनका चरित्र लोक-कल्याण के लिए सामने आये।

गोस्वामीजी समुद्र-मन्थन के रूपक के माध्यम से श्री भरत के निर्मल चरित्र की व्याख्या करते हैं। प्राचीन काल में देवताओं और दैत्यों के युद्ध में देवता परास्त होते हैं और दैत्य विजयी। भगवान् समुद्र-मन्थन से प्राप्त अमृत का देवताओं में वितरण करते हैं, जिसका पान कर देवतागण दैत्यों को परास्त करते हैं। यही बात साधकों के जीवन में भी आती है। उनके जीवन में भी दुर्गुणों और सद्गुणों का सतत युद्ध चला हुआ है। सद्-गुण क्या हैं ? गोस्वामीजी लिखते हैं——

सदगुन सुरगन अंब अदिति सी ।
रघुबर भगति प्रेम परमिति सी ।। १/३०/१४

—सद्‌गुण वस्तुत: देवगण हैं और दुर्गुण दैत्यगण । जब इनका युद्ध होता है, तो दिखायी यह पड़ता है कि सद्‌गुण कभी कभी ही विजयी होता है; बहुधा विजय दुर्गुण की ही होती है । सद्‌गुणों द्वारा दुर्गुणों का पूरी तरह विनाश कभी नहीं होता । सांकेतिक भाषा में गोस्वामीजी लिखते हैं—

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ । ७/४८/५

——क्या मैल भी कभी मैल के द्वारा धोने से छूट सकता है ? गोस्वामीजी ने पुण्य साधना को भी मैल कह दिया । बड़ी अटपटी बात लगती है । दुर्गुण को तो मल कहते ही हैं, पर सद्‌गुण को मल कहने का क्या अभिप्राय ? गोस्वामीजी के कथन में गूढ़तत्त्व है और वह यह——जब हमारे कपड़ों में गन्दगी आ जाती है, तो उसे साफ करने के लिए हम साबुन का प्रयोग करते हैं । साबुन से वस्त्र की मलिनता दूर हो जाती है, यह बात तो ठीक है । पर क्या साबुन भी स्वयं में मलिन नहीं है ? आप कपड़े में साबुन लगा लीजिए और बिना जल में धोये सीधे धूप में सुखा लीजिए और पहनिए । क्या उसमें मलिनता नहीं होगी ? इसीलिए हम पहले साबुन से गन्दगी को छुड़ाते हैं और फिर उस साबुन को जल से छुड़ाते हैं, तब कपड़ा पहनने लायक होता है । तात्पर्य यह कि गन्दगी को दूर करने के लिए साबुन की आवश्यकता है, पर साबुन भी एक प्रकार की गन्दगी है, जिसे छुड़ाने के लिए जल

आवश्यक है। इसी प्रकार, सद्‌गुण भी दुर्गुण की ही नाईं मल है। अतः उसे भी दूर करना आवश्यक है। और वह दूर कैसे हो ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ ७/४८/६

—यह मल प्रेम-भक्ति रूपी जल बिना दूर नहीं होता। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि पहले पुण्य के द्वारा पाप को काटिए और फिर पुण्य को, जो स्वयं में एक मलिनता है, प्रेम-भक्ति के जल से धो डालिए। नहीं तो, यदि पुण्य होगा, तो पुण्याभिमान भी होगा। यह वृत्ति आये बिना न रहेगी कि मैं पुण्यात्मा हूँ। सारे दुर्गुण भले हारकर चले जायँ, पर अहंकार का दुर्गुण नहीं जाता। मैंने दान किया, मैंने यज्ञ किये, मैं सत्यवादी हूँ—यह भाव रह ही जाता है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में एक विलक्षण बात लिखते हैं—

करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ १२८/३

—पुण्य करके भी पापों का नाश नहीं होता, रक्तबीज राक्षस की तरह ये पाप बढ़ते ही जाते हैं। रक्तबीज पर जब कोई प्रहार करता, तो जितने रक्तबिन्दु उसके शरीर से गिरते, उतने ही रक्तबीज और उत्पन्न हो जाते। गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि पुण्य है तलवार, और पाप है रक्तबीज। इस पुण्य की तलवार द्वारा जब पाप के रक्त-बीज पर प्रहार होगा, तो उससे लाखों रक्तबीज उत्पन्न हो

जायँगे । अर्थात् पाप को मिटाने के लिए जितने पुण्य किये जायँगे, वे सब 'मैं 'मैं' का रूप धारण कर आ खड़े होंगे। प्रत्येक पुण्य के साथ एक एक 'मैं' लग गया--'मैं सत्य-वादी हूँ', 'मैं दानी हूँ', 'मैं यज्ञकर्ता हूँ', 'मैं पण्डित हूँ', 'मैं तपस्वी हूँ' --मानो कितन ही रक्तबीज पैदा हो गये। तब प्रश्न उठ खड़ा होता है--तो क्या पुण्य करना बन्द कर दें ? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं--

हरति एक अघ-असुर-जालिका ।
तुलसिदास प्रभु कृपा कालिका ।। १२८/४

--इस पापरूपी राक्षसों के समूह का नाश तो केवल प्रभु की कृपारूपी कालिका ही कर सकती हैं। किस प्रकार ?-- पुण्यरूपी कृपाण के सहारे । कथा आती है कि कालिका देवी कृपाण उठाकर रक्तबीज पर प्रहार करती हैं, पर उसके रक्त को भूमि पर गिरने नहीं देतीं। तभी रक्तबीज मरता है । इसी प्रकार जब प्रभु की कृपारूपी कालिका पुण्यरूपी कृपाण के द्वारा पापरूपी रक्तबीज पर प्रहार करती हैं, तभी यह राक्षस मारा जाता है । केवल पुण्य के द्वारा पाप नष्ट नहीं होता । प्रत्येक पुण्य के साथ अहं की वृत्ति लगी रहती है और वह तभी नष्ट होती है, जब प्रभु की कृपा होती है । प्रभु की कृपा पुण्य और पाप दोनों का नाश कर देती है । 'मानस' में हम देखते हैं कि भगवान् राम का संघर्ष पापियों के साथ तो होता ही है, पुण्यात्माओं के साथ भी होता है। रावणपापी है । उसके साथ भगवान् का संघर्ष तो बाद में होता है, पर पहले उनका संघर्ष परशुराम के

साथ होता है । परशुराम हैं कौन ? भगवान् के साक्षात् अंशावतार । भगवान् पहले परशुराम को हराते हैं, फिर रावण को । रावण निशाचर है और भगवान् राम ने सूर्य-वंश में जन्म लिया है । अन्धकार और प्रकाश का युद्ध तो समझ में आता है, पर प्रकाश और प्रकाश का युद्ध कैसा ? परशुराम के लिए गोस्वामीजी यही शब्द लिखते हैं। जब परशुराम जनक की सभा में आये, तो गोस्वामीजी ने लिखा——

तेहिं अवसर सुनि सिव धनु भंगा ।
आयउ भृगुकुल कमल पतंगा ।। १/२६७/२

——परशुराम सूर्य हैं और भगवान् राम क्या हैं ?——

उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बालपतंग । १/२५४

——वे बालसूर्य हैं । दोनों ही सूर्य हैं । फिर दो सूर्यों में यह संघर्ष क्यों ? दो सूर्यों की आवश्यकता क्यों ? परशुराम तो अंशावतार थे । उन्होंने सहस्रार्जुन को हराया था । सहस्रार्जुन ने रावण को मात दी थी । जो परशुराम रावण को हरानेवाले सहस्रार्जुन को हरा सकते थे, वे क्या रावण का वध नहीं कर सकते थे ? फिर भगवान् को दूसरा अवतार लेने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? ये ही वे दार्शनिक गुत्थियाँ हैं, जिन्हें गोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थ के द्वारा स्पष्ट किया है । गोस्वामीजी का अभिप्राय यह है कि परशुराम का रावण को हराना या न हरा पाना महत्त्वपूर्ण नहीं है । यदि रावण को, एक व्यक्ति को हराना महत्त्वपूर्ण होता, तो परशुराम की बात

क्या, उसे तो सहस्रार्जुन ने हरा दिया था। और तो और, बाली ने भी उसे हराया था। उसे यदि भगवान् राम ने हरा दिया, तो इसमें विलक्षणता की क्या बात? विलक्षणता बस इतनी है कि रावण नामक व्यक्ति को हराने की सामर्थ्य बाली और सहस्रार्जुन में भी है, पर जिसे हम रावणत्व कहते हैं, जो सच्चे अर्थों में रावण है, उसे हराने की सामर्थ्य केवल भगवान् राम में है, और किसी में नहीं। रावण नामक व्यक्ति को हराना कठिन काम नहीं। दो डाकू लड़ें और यदि उनमें से एक जीत जाय, तो जीत डाकू की ही होगी, सज्जन की नहीं। इसी प्रकार बाली और रावण दो अहंकारी लड़े। उनमें से एक अहंकारी जीत गया। तो क्या अन्तर पड़ा? जैसे नागनाथ, वैसे साँपनाथ। अच्छाई और बुराई के युद्ध में यदि अच्छाई जीते, तब तो ठीक है। पर जहाँ लड़ाई बुराई और बुराई के बीच में हो, तो चाहे कोई भी जीते, कोई अन्तर नहीं पड़ने का। यह रावण कौन है?——साक्षात् पाप। और बाली कौन है?——पुण्य का प्रतीक। भगवान् ने दोनों का नाश किया——रावण का भी और बाली का भी। क्यों? बाली और रावण में लड़ाई हुई। बाली ने रावण को हरा दिया। वह केवल हराकर सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह रावण को बगल में दबाये छह महीनों तक दसों दिशाओं में घूमता रहा। क्यों? इसलिए कि जीतने के बाद बाली को चिन्ता हो गयी कि कहीं लोग उसे रावण का विजेता स्वीकार न करें तो? इसलिए वह बगल में

यह प्रमाणपत्र दवाये घूमता रहा। वाली वस्तुतः विजय पर आरूढ़ नहीं था, अपितु वह तो विजय का बोझा ढोता रहा। अहंकारी को सबसे बड़ी चिन्ता अपने प्रदर्शन की रहती है। मजे की वात तो यह है कि बाली और रावण दोनों ही अपने को एक दूसरे से वड़ा मानते हैं। बाली सोचता है कि मैंने जगत्-विजेता रावण को हरा दिया। देख लो, मैं कितना महान् हूँ, उसे बगल में दबाये घूम रहा हूँ। और अगर रावण से पूछा जाय––"कहिए, आप हार गये?" तो वह कहेगा––"इससे क्या हुआ? सिंह की नाक पर यदि मक्खी लात लगाकर चली जाय, तो क्या वह वनराज बन जायगी? वनराज तो वनराज ही रहेगा! संसार का विजेता तो मैं ही हूँ। क्षण भर के लिए इसने विजय पा भी ली, तो इससे क्या हुआ? बड़ा तो मैं ही रहूँगा। यह बन्दर तो बन्दर ही रहेगा।" अगर इस पर कोई रावण से फिर से पूछ दे––"यह आपकी क्या दशा है?" तो रावण बाली को दिखाकर तुरन्त कहेगा––"यह हार गया है न! इसलिए मुझे ढो रहा है। जो जीतता है, वह हारनेवाले के कन्धों पर बैठकर घूमता है। मैं भी आनन्द से घूम रहा हूँ!"

"पर आप तो कन्धे पर दिखायी नहीं दे रहे हैं। आप तो वगल में दबे हुए हैं।"

"अरे भई, यदि मैं कन्धे पर बैठता, तो इसे हाथ से पकड़े रहना पड़ता। व्यर्थ हाथ को श्रम होता। अच्छा तो यही है कि हाथ भी वही लगाकर रखे!"

दोनों ही प्रवंचना में डूबे हुए हैं। दोनों ही अपने को विजेता मानते हैं। और यहीं पाप और पुण्य का समझौता हो जाता है। हम सबके जीवन में यही समझौता है। इसीलिए पाप नहीं मिटता। हम पाप मिटाना ही कहाँ चाहते हैं ? हम क्षण भर के लिए पाप से लड़ते हैं। वह भी पाप मिटाने के लिए नहीं, पुण्यात्मा कहाने के लिए। हम चाहते ही नहीं कि पाप मिट जाय। हाँ, यह अवश्य चाहते हैं कि लोग हमें पुण्यात्मा कहें। परिणाम यह होता है कि हमारा पाप के साथ समझौता हो जाता है। हम उससे कहते हैं, 'अच्छा है, तुम बने रहो तो हमारी पूछ होगी।' अतएव पाप और पुण्य के संघर्ष में चाहे कोई विजयी हो, यह महत्त्वहीन है। इसीलिए भगवान् राम रावण का विनाश करते हैं और वाली का भी। वे जानते हैं कि बाली और रावण दोनों के चरित्र समान हैं। बाली ने रावण को दबाया और रावण के जितने दोष थे, वे बाली में आ गये। रावण ने तो छोटे भाई को बाद में निकाला, बाली ने पहले ही उसे मारकर भगा दिया। रावण ने परस्त्री का हरण बाद में किया, बाली ने पहले ही छोटे भाई की स्त्री का अपहरण कर लिया। जो दोष रावण में बाद में प्रकट हुए, बाली ने उन्हें पहले ही अपने जीवन में उतार लिया ! अतः रावण-व्यक्ति हारे यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि रावणत्व की हार हो। पर रावणत्व को कौन हरा सकता है ? न वाली, न सहस्रार्जुन और न परशुराम

ही। इसके नाश के लिए ही भगवान् राम का अवतार हुआ और श्री भरत उनके यंत्रस्वरूप होकर आये। उनमें अपना कोई अहं नहीं, अपना कोई मत नहीं। श्रीराम का मत ही उनका अपना मत है, उनकी वाणी ही अपनी वाणी है। वे पाप-पुण्य, दुर्गुण-सद्गुण इन द्वन्द्वों से सर्वथा ऊपर उठे हुए हैं। इसीलिए जब गुरु वसिष्ठ और राजा जनक ने श्री भरत से निर्णय देने को कहा, तो उन्होंने उसे अस्वीकार नहीं किया। वे बोलने के लिए खड़े हो गये। उनके इस आचरण से सभी लोग चकित हो जाते हैं। वे श्री भरत को समझ नहीं पाते, और समझें भी कैसे, जब श्री भरत के स्वभाव को वेद भी नहीं समझ पाते ?

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) मुक्ति का मूल्य

महाराज बिम्बिसार को नींद नहीं आ रही थी। तीर्थंकर महावीर ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि उन्हें नरक में जाना पड़ेगा। नरक की कल्पना से ही वे काँप उठे। उन्होंने सोचा कि उनके पास कोष की कमी नहीं है, वे सारे साम्राज्य के स्वामी हैं, फिर भला मोक्ष उन्हें अलभ्य कैसे रहेगा? दूसरे ही दिन वे तीर्थंकर के चरणों में उपस्थित हो गये और उनसे बोले, "प्रभो! मेरा साम्राज्य और सारा कोष आपके चरणों में अर्पित है। कृपया मुझे नरक-गमन से मुक्त कराएँ।"

तीर्थंकर के अधरों पर स्मित-रेखा खिच आयी। उन्होंने जान लिया कि महाराज को 'अहं' ने ग्रसित कर लिया है। जहाँ गर्व है, वहाँ मोक्ष कैसा? वे बोले, "अपने राज्य के 'पुण्य' नामक श्रावक से सामयिक फल प्राप्त कर लो। यही तुम्हारे उद्धार का उपाय है।"

महाराज उस श्रावक के पास पहुँचे और बोले, "श्रावकश्रेष्ठ! मेरी याचना स्वीकार करो, तो जो मूल्य माँगोगे, दूँगा।" और उन्होंने सामयिक फल की माँग की।

इस पर श्रावक बोला, "महाराज! 'सामयिक' तो समता का नाम है। राग-द्वेष की विषमता को चित्त से दूर कर देना ही तो 'सामयिक' है। इसे कोई कैसे दे सकता है? जब तक आप सम्राट् होने का अहंकार छोड़ न दें, वह आपको उपलब्ध नहीं हो सकता।"

(२) विजय का मार्ग

मगध सम्राट् अजातशत्रु की गिद्ध-दृष्टि लिच्छवि-मणतंत्र पर केन्द्रित थी। वज्जियों की वैशाली अजातशत्रु के विजयरथ के लिए दुर्धर्ष शिलाखण्ड बनी हुई थी और गौरव से अपना मस्तक ऊँचा किये हुए थी। भमवान् बुद्ध जब अन्तिम बार राजगृह के बहिर्वर्ती गृध्रकूट में पधारे, तो अजातशत्रु ने मगध-महामात्य वस्सकार को उनके पास भेजा। उसने बुद्धदेव से निवेदन किया, "भगवन्! हम वैशाली को पराभूत करना चाहते हैं, कोई उपाय बताएँ!'

भगवान् बुद्ध ने निकट बैठे शिष्य आनन्द से पूछा, "भन्ते! क्या वज्जियों के सन्निपात (संसद्-अधिवेशन) बार बार होते हैं?"

"हाँ, भगवन्!" आनन्द बोला।

"क्या वज्जि संघबद्ध हो उद्यम करते हैं? क्या वे वज्जीकरणीयों (राष्ट्रीय कर्तव्यों) को पूरा करते हैं? क्या सभा द्वारा नियमपूर्वक स्वीकृत विधि-संहिता का उल्लंघन तो नहीं करते? क्या वज्जि धम्म (राष्ट्रीय विधान) के अनुसार समवेत होकर चलते हैं? क्या वज्जि वृद्धजनों का आदर करते हैं? क्या उनके मान्य वचनों को वे मानते एवं अर्हतों की सेवा तथा रक्षा करते हैं?"

"हाँ, भगवन्! लिच्छवि इन सभी धर्मों का तत्परतापूर्वक पालन करते हैं," आनन्द ने उत्तर दिया।

भगवान् बुद्ध की मुखमुद्रा गम्भीर हो गयी। उन्होंने महामात्य वस्सकार की ओर देखते हुए आनन्द से कहा,

"आनन्द ! ये धर्म गणतंत्र के प्राणतत्त्व हैं। जब तक लिच्छवि इनका पालन करते हैं, वे अविजेय हैं।"

(३) एकनिष्ठा

समर्थ गुरु रामदास स्वामी अपने शिष्यों से अधिक छत्रपति शिवाजी महाराज से प्यार करते थे। शिष्य सोचते कि उन्हें शिवाजी से उनके राजा होने के कारण ही अधिक प्रेम है। समर्थ ने शिष्यों का भ्रम दूर करने की सोची।

एक दिन वे शिवाजी सहित अपनी शिष्यमण्डली के साथ जंगल से जा रहे थे कि रात्रि हो गयी। उन्होंने समीप की एक गुफा में जाकर डेरा डाला। समर्थ वहाँ लेट गये, किन्तु थोड़ी ही देर में उनके कराहने की आवाज आने लगी। शिष्यों ने कराहने का कारण पूछा, तो उन्होंने उदर-शूल बताया। अन्य शिष्य तो चुप रहे, किन्तु शिवाजी ने पूछा, "महाराज ! क्या इसकी कोई दवा नहीं?"

समर्थ बोले, "शिवा ! इसका एकमात्र उपाय है सिंहिनी का ताजा दूध, किन्तु वह तो दुष्प्राप्य है।"

शिवाजी ने सुना, तो गुरुदेव का तुम्वा उठाकर सिंहिनी की खोज में निकल पड़े। कुछ ही देर में उन्हें एक गुफा में सिंहिनी की गर्जना सुनायी दी। वे वहाँ गये, तो उन्हें एक सिंहिनी दो शावकों के साथ दिखायी दी। वे उसके पास गये और हाथ जोड़कर विनयपूर्वक बोले, "माँ ! मैं तुम्हें मारने या इन शावकों को लेने नहीं आया हूँ। गुरुदेव अस्वस्थ हैं और उन्हें तुम्हारे दूध की आवश्यकता है। उनके स्वस्थ होने पर यदि तुम चाहो,

तो मुझे खा सकती हो ।"

सिंहिनी उनके पैरों को चाटने लगी । मौका देख शिवाजी ने उसकी कोख में हाथ डाल, दूध निचोड़कर तुम्बा भर लिया और प्रणाम करके वे स्वामीजी के पास पहुँचे । दूध लाया देख समर्थ बोले, "धन्य हो शिवा ! आखिर दूध ले ही आये । अरे, मैं तो तुम सबकी परीक्षा ले रहा था । उदर-शूल तो बहाना मात्र था । तुम उसमें सफल हुए शिवबा ! तुम्हारे जैसा एकनिष्ठ शिष्य हो, तो क्या उसके गुरु को कभी पीड़ा रह सकती है ?"

(४) योग का चमत्कार

महाराष्ट्र-निवासी हिन्दी सन्त कवि निपट निरंजन के योग सम्बन्धी चमत्कार को सुन औरंगजेब बादशाह उनसे मिलने औरंगाबाद गया । उसे समीप आता देख ध्यानमग्न सन्त गरज उठे—

"लश्कर लवाज संग उफ ढोल चतुरंग,
हाथी पे ही नोरंग तशरीफ लाई है ।
शम्भू को सूली चढ़ाया, बेटी को यहाँ भगाया,
मुराद को मरवाया, मारा दारा भाई है ।
बाप को तो कैद किया, सर्मद का सर कटाया,
फकर कौन दूर किया, फकीर आजमाई है ।
कहै निपट निरंजन, सुनो आलमगीर,
तसबीकी तलवार, ये ही बादशाही है ?"

योगिराज को योग के बल से मालूम हो गया था कि उनके बारे में संशय उत्पन्न होने पर ही बादशाह

वहाँ आया है। उन्होंने इसीलिए उसके आते ही खरी-खोटी सुनायी। बादशाह को घमण्ड से हाथी पर आया देख वे सामने की दीवार पर जा बैठे! वह बेजान दीवार उन्हें औरंगजेब की अगुवाई के लिए ले चली। समीप आने पर वे पुनः गरज उठे—

"दावा पादशाहन का करे, तू आलमगीर,
हम तो फकीर, एक नाम के आधार हैं।
कहे निपट निरंजन, सुनो आलमगीर,
ये दिल्ली-दरबार नहीं, फकीर-दरबार है॥"

और यह सुन औरंगजेब सरीखा हिन्दू-द्वेषी बादशाह भी पानी-पानी हो गया। परिणाम यह हुआ कि उसने उनके सत्संग के लिए आना चालू कर दिया।

(५) अदब का खयाल

सन्त अबुल हसन खिरकानी की परीक्षा लेने के उद्देश्य से महमूद गजनी अपने एक गुलाम को शाही लिबास पहनाकर और खुद दासी का रूप लेकर अन्य दासियों के के साथ उनके पास गया। सन्त ने केवल दासीरूपी महमूद की ओर देखा। इस पर बादशाहरूपी गुलाम बोला, "आपने बादशाह की ताजीम (सम्मान) क्यों नहीं की?" हसन बोले, "सब रचा-रचाया जाल है!" महमूद जान गया कि यह पहुँचा हुआ महात्मा है। उसने लिबास उतारकर माफी माँगी और कुछ नसीहतें देने को कहा।

अबुल हसन ने दूसरों को बाहर करके कहा, "ऐ महमूद! जरा अदब का लिहाज रख। जो चीजें हराम हैं, उनसे

दूर रह, खुदा की बनायी दुनिया से प्यार कर और सखावत (उदारता) इख्तियार कर।"

तब महमूद ने उन्हें अशर्फियों का एक तोड़ा भेंट किया। इस पर सन्त ने एक सूखी जौ की टिकिया उसे खाने को दी। महमूद उसे चवाता रहा, किन्तु वह गले से न उतरी। तब वह बोला, "यह निवाला (ग्रास) मेरे गले में अटक रहा है।" इस पर हसन बोले, "तब क्या तू भी यह चाहता है कि यह तोड़ा मेरे हलक में अटके?"

महमूद शर्मिन्दा हो गया और जाते जाते बोला, "आपकी खानकाह (झोपड़ी) बहुत उम्दा है।" हसन बोले, "महमूद! खुदा ने तुझे इतनी बड़ी सल्तनत दी, फिर भी तेरा लालच नहीं गया। क्या तू इस झोपड़े का भी तालिब है?"

महमूद और भी लज्जित हुआ और वह जाने के लिए बढ़ गया, तो वे खड़े हो गये। उन्हें खड़ा देखकर महमूद रुक गया और बोला, "जब मैं यहाँ आया, तब आपने ताजीम (सम्मान) न की और अब कर रहे हैं!" हसन बोले, "महमूद! जब तुम यहाँ आये थे, तब तुम्हारे दिल में शाही रौव भरा था और तुम मेरा इम्तिहान लेने आये थे, मगर अब यहाँ से अदब का खयाल कर जा रहे हो, क्योंकि तुम्हारे चेहरे पर फकीरी का नूर चमक रहा है और इसी कारण मैंने उस समय ताजीम नहीं की थी और अब कर रहा हूँ।"

●

आत्मा का आश्चर्यमय आयाम

(गीताध्याय २, श्लोक २९)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

(कश्चित्) कोई (एनं) इस [आत्मा] को (आश्चर्यवत्) आश्चर्य के समान (पश्यति) देखता है (तथा एव च) और इसी प्रकार (अन्यः) कोई दूसरा (आश्चर्यवत्) आश्चर्य के समान (वदति) बोलता है (अन्यः च) एवं अन्य कोई (एनं) इसे (आश्चर्यवत्) आश्चर्य के समान (शृणोति) सुनता है (कश्चित् च) तथा कोई तो (श्रुत्वा अपि) सुनकर भी (एनं) इसे (न एव वेद) नहीं ही जानता।

"कोई इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, कोई दूसरा इसका आश्चर्य के समान कथन करता है और कोई इसे आश्चर्य के समान सुनता है तथा कोई तो सुनकर भी इसे नहीं जान पाता।"

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पचीसवें श्लोक तक आत्मा के स्वरूप का उपदेश दिया। फिर बाद के तीन श्लोकों में आत्मा को जन्म-मरण-धर्मा माननेवाले की स्थिति स्वीकार करते हुए कहा कि ऐसी दशा में भी शोक करना अनुचित है। जो जन्म लेता है, वह मरता भी है। जन्म के पहले वह अदृश्य रहता है, मृत्यु के बाद भी अदृश्य हो जाता है, केवल बीच में दिखायी देता है। तो ऐसे

अनित्य, क्षणभंगुर जीवन के लिए क्यों रोना ?

इससे अर्जुन के मन में एक द्वन्द्व पैदा हो जाता है कि क्या आत्मा सचमुच जन्म और मरणशील है ? उसे सन्देह होता है कि आत्मा है भी या नहीं। यदि आत्मतत्त्व का स्वरूप निश्चित हो, तो उसके सम्बन्ध में इतने विभिन्न मत क्यों हैं ? अर्जुन की दृष्टि में मतों की विभिन्नता आत्मा के अनिश्चित स्वरूप के कारण ही जन्म लेती है। उसके इस भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि आत्मा का स्वरूप अनिश्चित नहीं है, वस्तुतः आत्मा सूक्ष्म है, इसलिए वह दुर्विज्ञेय है। उसके दुर्विज्ञेय होने के कारण लोग उसकी धारणा अपनी अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं और इसलिए मतवैभिन्न्य हो जाता है। आचार्य शंकर इस श्लोक पर अपने भाष्य में लिखते हैं--"दुर्विज्ञेयः अयं प्रकृत आत्मा किं त्वाम् एव एकम् उपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते"--'जिस आत्मा का प्रकरण चला है, वह दुर्विज्ञेय है और सर्व-साधारण के लिए भ्रान्ति का कारण है। अतः अर्जुन ! अकेले तुझे ही क्या उलाहना दू ?'

ईशावास्योपनिषद् में भी आत्मा के लिए परस्पर-विरोधी विशेषण लगाये गये हैं। उसके चौथे और पाँचवें मंत्र में कहा गया है--

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

——वह (आत्मतत्त्व) एक है। वह अकम्पनशील है, तथापि मन से भी तीव्र गतिवाला है। एवंविध तीव्र गतिशील होने के कारण वह इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता। वह स्थिर रहकर भी दौड़नेवाले सबको पार कर जाता है। उसी की सत्ता पर प्रकृति माता की गोद में खेलनेवाला प्राण हलचल करता है।' 'वह कम्पनशील है। वह कम्पनशील नहीं है। वह दूर है, वह समीप ही है। वह सबके भीतर है, वह इस सबके बाहर ही है।'

ये विरोधात्मक विशेषण आत्मा के सम्बन्ध में सन्देह खड़ा कर देते हैं। लगता है कि एक ही पदार्थ दो विरोधी गुणोंवाला कैसे हो सकता है? जो चलता है, वह उसी क्षण खड़ा भी कैसे रहता है? सामान्य इन्द्रियगोचर पदार्थ विरोधी धर्मवाले नहीं होते। पर जहाँ इन्द्रियों की पहुँच नहीं हो पाती, वहाँ ऐसे विरोधी भावों का अनुभव हुआ करता है। या यों कहें, जिसे इन्द्रियों के सहारे पकड़ा नहीं जा सकता, पर जो है, उसे समझाने में ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है, जो तर्कशुद्ध नहीं होती। ऐसे पदार्थ को हमें आश्चर्य की श्रेणी में डालना पड़ता है। आत्मा ऐसा ही तत्त्व है और इसीलिए उसके लिए विवेच्य उनतीसवें श्लोक में 'आश्चर्य' का विशेषण लगाया गया है। जो वस्तु सबके लिए सुलभ है, वह आश्चर्य की श्रेणी में नहीं आती। पर जो दुर्लभ है और

विरले देखनेवालों को भी जो अलग अलग दिखायी दे, वह स्वाभाविक ही आश्चर्य की श्रेणी में आएगी। आत्मा का अनुभव अत्यन्त दुर्लभ है और जो इने-गिने लोग उसका अनुभव पाते भी हैं, वे अलग अलग ढंग से उसका आख्यान करते हैं। आत्मा के अनुभव के लिए अन्त:करण रूपी यंत्र का नितान्त शुद्ध होना अनिवार्य है। वस्तुत: मन के द्वारा ही क्रमश: आत्मा के अनुभव की पात्रता प्राप्त होती है। मन के दर्पण में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकता है। हम सरोवर में स्नान करने गये, तो वहाँ उसकी तलहटी में कई चीजें देख पाते हैं, जिनमें एक लोहे का डण्डा भी पड़ा है। पानी अगर हिलता रहे, तो लोहे का वह सीधा डण्डा भी टेढ़ा-मेढ़ा दिखेगा। उस डण्डे को यदि उसके अपने स्वरूप में देखना है, तो पानी को एकदम शान्त होने देना होगा। जब जल नितान्त निश्चंचल हो जायगा, तब डण्डा जैसा है, ठीक वैसा ही ऊपर से भी दिखेगा। यह आत्मतत्त्व मनरूपी जल के चंचल होने से विकृत दिखायी देता है। जब यह मनोजल नितान्त शान्त, स्थिर और निश्चंचल हो जाता है, तो आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है। इस अवस्था को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है। कोई कहता है——मन disintegrate (खण्डित) हो गया, और दूसरा कहता है——मन अनन्त गतिशील बन गया। मन का खण्डित होना मनरूपी परदे के फटने की अवस्था है। यही समाधि है। मन का परदा कुछ समय के लिए हट जाता है और

हम सत्यस्वरूप ही रह जाते हैं। इसी को आत्मदर्शन या आत्मसाक्षात्कार भी कहते हैं। मन का अनन्त गतिशील हो जाना भी इसी अवस्था का दूसरे प्रकार का आख्यान है। इसको समझाने के लिए रस्साखींच का उदाहरण दिया जा सकता है। कल्पना करें कि रस्साखींच के दोनों दल समान बलशाली हैं। ऐसी दशा में बीच का निशान इधर-उधर न हिलकर स्थिर ही दिखेगा। जब रस्साखींच के दोनों दल अपनी अपनी जगह पर रस्सा तानकर खड़े हो गये, जब खेल शुरू नहीं हुआ, तब भी बीच का निशान स्थिर है, और जब खेल शुरू हो जाता है, जब सब लोग अपनी पूरी ताकत लगाकर खींचते हैं, तो यदि दोनों दल बल में समान हुए, तो भी बीच का निशान स्थिर दिखायी देता है। जब दोनों दलों की मांसपेशियों की गति शून्य थी, तब तो निशान स्थिर था ही, पर जब उन सबकी मांसपेशियाँ उनकी सामर्थ्य तक गतिशील हो जाती हैं, तब भी निशान स्थिर ही रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्मानुभव की अवस्था को चाहे मन का खण्डित होकर विलीन हो जाना कहें, चाहे मन का अनन्त गतिशील हो जाना, दोनों का तात्पर्य एक ही है। मन की वृत्तियों को उठने न देने में जिस असीम शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका अनुभव तो वे ही करते हैं, जो उस क्षेत्र में प्रयोग करते हैं। मन की वृत्तियों में कितनी शक्ति होती है, इसका अनुभव हममें से प्रत्येक कर सकता है और करता है। एक छोटे से विचार का मन में उठना हम रोक नहीं पाते। तब सब

प्रकार की वृत्तियों को उठने से रोक देने में कितनी शक्ति लगती होगी, इसका अनुमान तो कम से कम किया ही जा सकता है। इसीलिए वृत्तियों के निरुद्ध होने की उस अवस्था को मन का अनन्त गतिशील होना कहा गया।

अब उस अवस्था को प्रकट करने के लिए ये जो दो प्रकार चुने गये, वे दोनों परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। यही बात ईशावास्योपनिषद् के उपर्युक्त दो मंत्रों में दिखायी देती है। इसे तर्कशास्त्र ने वैतर्किक प्रणाली (process of dialectics) कहकर पुकारा है। जब कोई बात सूक्ष्म हो और इन्द्रियग्राह्य न हो, तो उसको समझाने के लिए इसी प्रणाली का सहारा लिया जाता है। और यह कठिनाई केवल धर्म के क्षेत्र की नहीं है, वह तो विज्ञान के क्षेत्र में भी विद्यमान है। आणविक भौतिकी के जो विद्यार्थी हैं, वे जानते हैं कि 'इलेक्ट्रान' या 'फोटान' का वर्तन एक कण (particle) के समान भी है और तरंग (wave) के समान भी। यह विज्ञान के क्षेत्र का एक बहुत बड़ा विरोधाभास है। तो फिर 'इलेक्ट्रान' या 'फोटान' है क्या ? वह कणात्मक है अथवा तरंगात्मक ? कण या तरंग कोई भी अपने आप में 'इलेक्ट्रान' या 'फोटान' की व्याख्या करने में समर्थ नहीं है। इसलिए एक नया शब्द गढ़ना पड़ा, जो wavicle (वेभीकल) के नाम से परिचित है ! इसमें wave और particle दोनों शब्दों को मिला दिया गया है। यह वैसा ही है, जैसे हम कण और तरंग को मिलाकर 'करंग' शब्द बना लें !

जब विज्ञान प्रकृति की गहराई में उतरता है और अनुभूति के ऐसे स्तरों पर आता है, जहाँ प्रचलित शब्द और व्याख्याएँ खड़ी नहीं रह पातीं, तो जो होता है, उसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया। तीन आयामवाले संसार का तर्क चतुरायामवाले विश्व में खण्डित हो जाता है, अथवा जैसा कि शास्त्र कहते हैं, जाग्रत् अवस्था का तर्क स्वप्नावस्था पर लागू नहीं होता। आज आणविक क्षेत्र में विज्ञान घटनाओं के अधिक गहरे स्तरों को छूने में समर्थ हुआ है और ये घटनाएँ युक्तिपूर्ण भाषा में नहीं रखी जा सक रही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विज्ञान उन सत्यों की बात करता रहा है, जो सीमित थे तथा जिनके मुख्य एवं गौण गुणधर्म स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये जा सकते थे। पर आज इस बीसवीं शताब्दी में विज्ञान ने इस सीमितता के दायरे को तोड़ दिया है। पहले वह जिस विश्व को निश्चित एवं आकलनशील मानता था, आज उसके भीतर घुसकर वह जो कुछ देख रहा है, वह सर्वसामान्य अनुभवों से इतना हटा दिखायी दे रहा है कि विज्ञान की सुसंस्कृत भाषा भी ठीक से उसे व्यक्त नहीं कर पा रही है। उन्नीसवीं शताब्दी का विज्ञान विश्व की समस्त घटनाओं को गणित के समीकरणों में बांध देने का जो दावा किया करता था, वह दावा आज बीसवीं सदी ने खण्डित कर दिया है। सर जेम्स जीन्स अपने The New Background of Science नामक ग्रन्थ (पृष्ठ २-६) में लिखते हैं—

"The old philosophy ceased to work at the end of the nineteenth century, and the twentieth-century physicist is hammering out a new philosophy for himself. Its essence is that he no longer sees nature as something entirely distinct from himself. Sometimes it is what he himself creates or selects or abstracts; sometimes it is what he destroys.

"...We can only see nature blurred by the clouds of dust we ourselves make... Thus the history of physical science in the twentieth century is one of a progressive emancipation from the purely human angle of vision...

"The physicist who can discard his human spectacles, and can see clearly in the strange new light which then assails his eyes, finds himself living in an unfamiliar world, which even his immediate predecessors would probably fail to recognise."

—"पुराने दर्शन ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में काम करना बन्द कर दिया और बीसवीं सदी का भौतिकशास्त्री अपनें लिए एक नये दर्शन की खोज-सँवार में संलग्न है। उसका सार यह है कि वह अब प्रकृति को अपने आप से सर्वथा भिन्न नहीं देखता। कभी प्रकृति वह है, जिसे वह रचता या चुनता है अथवा मूर्त से अलग करता है, तो कभी वह है, जिसे नष्ट करता है।

"...हम केवल उसी प्रकृति को देख सकते हैं, जिसे हमारे अपने ही बनाये धूलिकणों के बादलों ने धुँधला कर दिया है।... इस तरह बीसवीं सदी में भौतिक विज्ञान का इतिहास शुद्ध मानवीय दृष्टिकोण से क्रमिक मुक्ति की एक

गाथा है।...

'जो भौतिकशास्त्री अपने इस मानवीय चश्मे को निकाल दे सकता है और तब जो नया विचित्र प्रकाश उसकी आँखों पर धावा बोलता है, उसमें स्पष्ट रूप से देख ले सकता है, वह अपने आपको एक अपरिचित संसार में रहते हुए पाता है—ऐसा संसार, जिसे सम्भवत: उसके तत्काल पूर्ववर्ती भी पहचानने में असफल हो जायँ।"

हमारी भी तब ठीक यही दशा होती है, जब हम मनुष्य के स्वरूप को जानने के लिए उसके व्यक्तित्व की गहराई में उतरते हैं। मनुष्य क्या है? क्या हम उसकी व्याख्या कर सकते हैं? जब हम किसी व्यक्ति की परिभाषा करते हैं, तो हमें पहले यह बताना पड़ता है कि वह पुरुष है या नारी, फिर हम उसकी उम्र, उसका वजन, उसका रंग, उसकी शैक्षणिक योग्यता, उसकी गतिविधियाँ, उसकी राष्ट्रीयता आदि का विवरण देते हैं। उसके सम्बन्ध में जितनी जानकारियाँ मिल सकती हैं, हम उन सबके सहारे उसका परिचय दे सकते हैं, पर क्या उतने से उस व्यक्ति का पूरा आख्यान हो गया? हमें ऐसा लगता है कि हम कुछ छोड़ रहे हैं। उसका जो व्यक्त भाग है, उसका विवरण तो प्रस्तुत कर दिया गया, पर जो उसका बहुत बड़ा भाग अव्यक्त है, उसके व्यक्तित्व की जो गूढ़ता और गहराई है, वह तो अछूती ही रह गयी। एलेक्सिस कैरल की भाषा में 'ज्ञात मनुष्य' (man the known) का आख्यान तो हो गया, पर जो

उसके भीतर का 'अज्ञात मनुष्य' (man the unknown) है, वह परिचय की परिधि में नहीं आ सका।

यह 'अज्ञात मनुष्य' ही वह आत्मा है, जिसे ईशावास्योपनिषद् वैतर्किक प्रणाली के द्वारा हमारे समक्ष रखता है। जिस पदार्थ में एक साथ विरोधी गुणों का मेल हो, वह अत्यन्त आश्चर्यकारी ही होगा। जो अचल होकर भी चले, स्थिर होकर भी भागती समस्त वस्तुओं को दौड़कर पार हो जाय, समीप होकर भी दूर हो और भीतर होकर भी बाहर हो, उससे बढ़कर अचरज की बात और क्या हो सकती है? आत्मा का यह आश्चर्यमय आयाम आज के वैज्ञानिकों के लिए भी पहेली बना हुआ है। प्रकृति की खोज-बीन करते करते आज वैज्ञानिक मनुष्य तक पहुँच रहे हैं और उसे समूची प्रकृति के केन्द्र-बिन्दु के रूप में ग्रहण कर रहे हैं। उन्हें यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि प्रकृति का रहस्य जानने के लिए पहले मनुष्य का रहस्य जानना पड़ेगा। लिंकन बार्नेट तो मनुष्य को ही प्रकृति का सबसे बड़ा रहस्य मानते हैं। वे अपनी पुस्तक The Universe and Dr. Einstein (पृष्ठ १२७) में लिखते हैं--'Man is thus his own greatest mystery' --'मनुष्य ही अपना सबसे बड़ा रहस्य है'। नीलस बोअर का विचार है कि 'We are both spectators and actors in the great drama of existence' --'हम लोग अस्तित्व के इस महान् नाटक में दर्शक और अभिनेता दोनों हैं'। इस सबका तात्पर्य यही है कि प्रकृति का रहस्य समझने के लिए आज वैज्ञानिक

सबसे पहले मनुष्य को समझना चाहता है, क्योंकि यह प्रकृति करोड़ों वर्ष के अन्धे विकासक्रम में से गुजरकर मनुष्य में आकर आत्म-चेतन और स्वतंत्र हुई है। प्रकृति के रहस्य के अध्ययन से मनुष्य का रहस्य कैसे उद्‌भूत हुआ और इस रहस्य को जानने में आज भी विज्ञान कितना अक्षम है, इस सम्बन्ध में एडिंगटन अपने Space, Time, and Gravitation नामक ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ में लिखते हैं—

"The theory of relativity has passed in review the whole subject-matter of physics It has unified the great laws, which by the precision of their formulation and the exactness of their application have won the proud place in human knowledge which physical science holds today. And yet, in regard to the nature of things, this knowledge is only an empty shell--a form of symbols. It is knowledge of structural form, and not knowledge of content. All through the physical world runs that unknown content which must surely be the stuff of our consciousness. Here is a hint of aspects deep within the world of physics, and yet unattainable by the methods of physics. And, moreover, we have found that where science has progressed the farthest, the mind has but regained from nature that which the mind has put into nature. We have found a strange footprint on the shores of the unknown. We have devised profound theories, one after another, to account for its origin. At last, we have succeeded in reconstructing the creature that made the footprint, And lo ! it is our own."—

"सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने भौतिकी के समूचे विषय-क्षेत्र

की समीक्षा की है। उसने उन महान् नियमों को एक सूत्र में गूँथा है, जिन्होंने अपनी रचना की सूक्ष्मता और व्यवहार की सटीकता के द्वारा भौतिक विज्ञान को मानवी ज्ञान के क्षेत्र में आज का सम्मानित स्थान प्राप्त कराया है। फिर भी वस्तुओं के स्वरूप के सम्बन्ध में यह ज्ञान मात्र खाली घोंघे के समान है--प्रतीकों का एक प्रकार है। वह बाहरी ढाँचे का--संरचनात्मक रूप का ज्ञान है, सारतत्त्व का ज्ञान नहीं। समूचे भौतिक जगत् में वह अज्ञात सारतत्त्व भिदा हुआ है, जो अवश्य ही हमारी चेतना के उपादान से बना होगा। यह ऐसे पहलुओं का संकेत करता है, जो भौतिकी की दुनिया की गहराई में विद्यमान तो हैं, पर जो भौतिकशास्त्र की प्रणालियों के द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। साथ ही, हमने यह भी पाया है कि जहाँ विज्ञान का उत्कर्ष सर्वाधिक हुआ है, वहाँ मन ने प्रकृति से वही फिर से प्राप्त किया है, जिसे उसने प्रकृति में रख छोड़ा है। हमने अज्ञात के तट पर एक विचित्र पदचिह्न देखा है। उसकी उत्पत्ति का कारण जानने के लिए हमने एक के बाद एक कई गूढ़ सिद्धान्तों की रचना की है। अन्त में हम उस जीव की पुनर्रचना करने में सफल हुए हैं, जिसने वह पदचिह्न बनाया। और लो, वह हमारा अपना ही है!"

तो, आज का वैज्ञानिक भी मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को रहस्यात्मक मानता है और उसकी उपलब्धि को आश्चर्यजनक। वह एक आत्मा अनेक कैसे हो जाता है, यह भी आत्मा का ही आश्चर्यमय आयाम है। वेदान्त

कहता है कि एक का अनेक दीख पड़ना भ्रम के कारण है। क्या आज का वैज्ञानिक भी इस सम्बन्ध में कुछ कहता है ? इस सदी के एक बड़े भौतिकशास्त्री अर्विन श्राडिंजर 'What is Life ?' नामक अपने ग्रन्थ में (पृष्ठ ९०-९१) लिखते हैं— "Consciousness is never experienced in the plural, only in the singular... Consciousness is a singular of which the plural is unknown; that there *is* only one thing and that, what seems to be a plurality is merely a series of different aspects of this one thing, produced by a deception (the Indian Maya)"—"चेतना का अनुभव कभी बहुवचन में नहीं होता, केवल एकवचन में होता है। ... चेतना एक ऐसा एकवचन है, जिसका बहुवचन अज्ञात है; केवल एक का ही अस्तित्व है और जो अनेकता दिखायी देती है, वह केवल इसी एक के विभिन्न पहलुओं का, जो भ्रम से (भारतीय 'माया' से) उत्पन्न होते हैं, एक क्रम मात्र है।"

इन उद्धरणों से यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है कि गीता में आत्मा को 'आश्चर्य' कहकर क्यों पुकारा। विवेच्य श्लोक में 'आश्चर्य' शब्द तीन बार आता है। हम इस श्लोक का अर्थ 'आश्चर्य' शब्द के सन्दर्भ में तीन प्रकार से कर सकते हैं। 'आश्चर्यवत्' शब्द का सम्बन्ध 'एनम्' (आत्मानम्) के साथ मानकर एक प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। उसका सम्बन्ध 'कश्चित्' और 'अन्यः' के साथ जोड़कर दूसरे प्रकार से अर्थ हो सकता है और उसे क्रियाविशेषण मान, उसका सम्बन्ध 'पश्यति', 'वदति' और

'शृणोति' के साथ जोड़कर एक तीसरे प्रकार से अर्थ किया जा सकता है।

पहले 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्' इस वाक्य को ले लें। यदि यहाँ 'आश्चर्यवत्' शब्द को 'एनम्' के साथ सम्बन्धित करें, तो आत्मा का विशेषण होने पर 'आश्चर्यवत्पश्यति' का अर्थ यह होगा कि लोग आत्मा को आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं। जैसे संसार में किसी अद्भुत वस्तु को देख, उसका तत्त्व न समझने के कारण मनुष्य उस पर नाना प्रकार के विरुद्ध धर्मों की कल्पना करता है, उसी प्रकार आत्मा की विलक्षणता को न समझ सकने के कारण मनुष्य उसका वर्णन भिन्न भिन्न प्रकार से करता है। कोई उसे एक मानता है, तो कोई अनेक; कोई उसे चैतन्य समझता है, तो कोई जड़; कोई उसकी उपलब्धि आनन्दघन के रूप में करता है, तो कोई उसे दुःखरूप मानता है। जिस एक ही तत्त्व को लोग इतने विविध प्रकार से देखें, वह आश्चर्यमय होगा ही। यदि 'आश्चर्यवत्' शब्द का सम्बन्ध 'कश्चित्' के साथ करें, तो अर्थ यह होगा कि आत्मा का देखनेवाला आश्चर्यमय है। जिस आत्मा को देखने के लिए तपस्वी तप करते हैं, फिर भी नहीं देख पाते, उसका द्रष्टा अवश्य आश्चर्यमय ही होगा। गीता में ही अन्यत्र कहा है--

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥७/३॥

--'हजारों मनुष्यों में कोई एक मुझे पाने के लिए प्रयत्न

करता है। ऐसे प्रयत्न करनेवाले हजारों योगियों में कोई एक मुझे यथार्थतः जान पाता है।' तो ऐसा जाननेवाला कितना आश्चर्यमय न होगा! अब यदि 'आश्चर्यवत्' को क्रियाविशेषण मान 'पश्यति' के साथ सम्बद्ध किया जाय, तो अर्थ यह होगा कि उस आत्मा को देखना ही आश्चर्यमय है। जिस आत्मा को श्रुतियों ने 'नेति' 'नेति' कहकर पुकारा, जिसके लिए कहा कि 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' --'आँखें वहाँ नहीं जा पातीं', उसको देखना अवश्य आश्चर्यमय होगा। उपर्युक्त वैज्ञानिक विश्लेषण में भी हमने देखा है कि सत्य का दर्शन कितना कठिन है। जब तक चित्त का सारा मल धुल न जाय और वृत्तियाँ निरुद्ध न हो जायँ, तब तक सत्य का दर्शन सम्भव नहीं। चित्त के निश्चंचल होने में जो कठिनाई होती है, उसका वर्णन हम ऊपर कर ही चुके हैं।

अब 'आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' इस वाक्य को ले लें। यहाँ भी यदि 'आश्चर्यवत्' को आत्मा का विशेषण मानें, तो उसका अर्थ ऊपर जैसा ही होगा। यदि उसे अन्यः' का विशेषण मानें, तो अर्थ होगा कि आत्मा का वक्ता भी आश्चर्यमय है। आत्मा का वक्ता होना उसके द्रष्टा होने की अपेक्षा कठिन है। जिसे आत्मदर्शन हो गया, वह मौन हो जाता है, उसे बोलने में रुचि नहीं रह जाती। यहाँ ढोंगी की बात नहीं हो रही है। ढोंगी तो बस बोलना ही जानता है, उसे आत्मानुभव कहाँ? पर जो यथार्थतः आत्मद्रष्टा है, वह आत्मा के आनन्द में ही

डूब जाता है। एक तो ऐसे आत्मद्रष्टा ही अत्यन्त कठिनाई से मिलते हैं। उनमें आत्मा का वक्ता और भी कठिनाई से मिलता है। ऐसे आत्मद्रष्टा जब वक्ता बनते हैं, तब ये ही यथार्थ में गुरु का काम करते हैं। ऐसे गुरु आश्चर्यमय ही होते हैं। इन्हें संसार को मिथ्या भी समझना होता है और सत्य भी। यदि ये संसार को मिथ्या न समझें, तो उपदेश का मूल्य क्या रहा ? ये तो फिर ढोंगी की श्रेणी में आ गये। अतः जो आत्मवक्ता है, उसके लिए संसार के मिथ्यात्व का अनुभव अनिवार्य है। पर साथ ही उसे संसार को सत्य भी मानना पड़ता है। यदि न माने, तो मिथ्या संसार में मिथ्या लोगों को उपदेश कैसे देते बने ? तब तो उपदेश भी मिथ्या ही होगा। यही वक्ता की कठिनाई है और ऐसे जो वक्ता कभी मिल गये, तो वे आश्चर्यमय ही होते हैं। यदि 'आश्चर्यवत्' को 'वदति' का विशेषण मानें, तो अर्थ होगा कि आत्मा का कथन करना आश्चर्यमय है। यह भी सही हैं। जिस आत्मा के लिए कहा गया कि 'न तत्र वाग् गच्छति'–'वहाँ वाणी नहीं जाती', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'–– 'जहाँ पर वाणी मन के साथ जाकर और उस आत्मतत्त्व को न पाकर लौट आती है'––उस अवस्था का वर्णन वाणी के द्वारा कैसे सम्भव है ? जिसे श्रुतियाँ 'यह नहीं, यह नहीं' और 'अवाङ्मनसगोचर' कहकर पुकारती हैं, उस आत्मा का कथन कर पाना भी आश्चर्यमय ही है।

आत्मा का द्रष्टा और वक्ता ही आश्चर्यमय नहीं है,

बल्कि उसका श्रोता भी आश्चर्यमय है। संसार के इतने आकर्षणों को छोड़कर, सुमधुर नृत्य-गीत एवं वाद्य यंत्रों को छोड़कर जो आत्मा का गीत, उसका उपदेश सुनने को तत्पर है, वह आश्चर्यमय ही है। यही अर्थ ध्वनित हुआ है 'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति' से। 'आश्चर्यवत्' यदि आत्मा का विशेषण है, तो अर्थ ऊपर के ही समान हुआ। यदि वह 'अन्यः' का विशेषण है, तो अर्थ हुआ कि आत्मतत्त्व का श्रोता भी आश्चर्यमय है। जो तत्त्व इतना abstract (अमूर्त), इतना abstruse (गूढ़) है, उसे सुनने का, जानने का जिसमें आग्रह है, वह अवश्यमेव आश्चर्यमय है। ऐसा ही श्रोता कालान्तर में द्रष्टा बन सकता है। इसी प्रकार यदि 'आश्चर्यवत्' 'शृणोति' का विशेषण है, तो अर्थ यह होगा कि आत्मा का श्रवण भी आश्चर्यमय ही है। जिसको ठीक ढंग से बताया नहीं जा सकता, उसे सुनने का आग्रह भी अचरज के ही समान है। कोई कैलास-मानसरोवर के दर्शन करने गया। जब उसने वहाँ जाकर दर्शन किये, तो आश्चर्य में डूब गया। जब लौटकर उसने गाँव के लोगों से वहाँ का वर्णन किया, तो आश्चर्य में मानो पगा हुआ बोलने लगा। श्रोताओं में अनेकों ने कुतूहल और जिज्ञासा से सुना, पर जो स्वयं कैलास-मानसरोवर के दर्शन करने जाना चाहता था, वह तो आश्चर्य में डूबकर ही सुनता रहा। आत्मा के द्रष्टा, वक्ता और श्रोता की भी यही दशा होती है।

पर आत्मा का श्रवण कर लेने मात्र से कोई आत्मा

को जान नहीं लेता। श्रवण पहली कड़ी है, फिर है मनन और फिर निदिध्यासन—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः," यह याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी के प्रति उपदेश है, "आत्मा को देखना ही है, मैत्रेयी! पर उसके लिए पहले श्रवण, मनन और निदिध्यासन के सोपानों पर से गुजरना होता है।" जो मनन और निदिध्यासन की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ते, श्रवण के सोपान पर ही रुक जाते हैं, उनके लिए भगवान् कृष्ण कहते हैं—'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'—'सुनकर भी कोई कोई उसे नहीं जान पाता'।

अर्जुन आत्मा के इस आश्चर्यमय आयाम को सुनकर अपने मूल कर्तव्य से कहीं दूर न चला जाय, इसलिए श्रीभगवान् पुनः प्रसंग पर आकर अर्जुन को शोक न करने का उपदेश देते हैं, जिसकी चर्चा अगली बार करेंगे।

◆

भोजन, भोजन चिल्लाने और उसे खाने तथा पानी, पानी कहने और उसे पीने में बहुत अन्तर है। इसी प्रकार केवल ईश्वर, ईश्वर रटने से हम उसका अनुभव करने की आशा नहीं कर सकते। हमें उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए, साधना करनी चाहिए।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द और महावीर हनुमान

सन्तोष कुमार खेतान

बचपन से ही स्वामी विवेकानन्द के हृदय में भगवान् राम और उनके अनन्य पार्षद श्रीहनुमान के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उनकी माँ श्रीमती भुवनेश्वरी देवी उन्हें प्रतिदिन रामायण तथा महाभारत की कथाएँ सुनाया करतीं। इनमें अत्यन्त रुचि होने के कारण बालक नरेन्द्र* ने छह वर्ष की अल्प वय में ही रामायण की पूरी कथा कण्ठस्थ कर ली थी। मुहल्ले में कहीं भी रामायण की कथा होती या रामलीला का आयोजन होता, तो खेल-कूद को तिलांजलि दे वह निश्चित समय पर वहाँ पहुँच जाता। एक बार तो ऐसा हुआ कि एक गायक राम-चरित गाते गाते बीच में अटक गया। वह एक अंश भूल गया था। बालक नरेन्द्र ने झट उसे उस अंश का स्मरण करा दिया। जब भी वह रामायण की कथा सुनने जाता, तो बीच बीच में इधर उधर निगाह फेरकर देख लिया करता कि भक्तराज हनुमान अपने कथनानुसार रामकथा सुनने वहाँ उपस्थित हुए हैं या नहीं।[१] एक दिन कथावाचक महोदय ने बताया कि हनुमानजी कदलीवन में निवास करते हैं। यह सुन बालक नरेन्द्र के हृदय में हनुमानजी से मिलने की इच्छा तीव्र हो गयी। घर के पास ही केले का एक बगीचा था।

---

* स्वामी विवेकानन्दजी के बचपन का नाम।

१. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग, खंड ३, पृष्ठ ५९, प्रकाशक— श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर।

वह अँधेरे में वहाँ चला गया और केले के एक पेड़ के नीचे बैठकर हनुमानजी के आने की बाट जोहने लगा। रात हो जाने पर भी वह घर नहीं लौटा। घर के लोगों को उस रात उसे ढूँढ़ने में जो परेशानी हुई होगी, उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।[२]

स्वामी विवेकानन्द के जीवन की कुछ घटनाओं का हनुमानजी के जीवन की घटनाओं से बहुत साम्य है। जैसे हनुमानजी अपने स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्र का सन्देश और मुद्रिका लेकर समुद्र-पार लंका गये थे, ठीक वैसे ही स्वामी विवेकानन्द अपने गुरुदेव भगवान् श्रीरामकृष्ण का सन्देश लेकर समुद्र-पार अमेरिका गये थे। हनुमानजी के लंका जाने का उद्देश्य था जगज्जननी सीता को स्वतंत्र कराना और भगवान् श्रीरामचन्द्र की महिमा को फैलाना। दूसरी तरफ स्वामी विवेकानन्दजी के अमेरिका एवं यूरोप जाने का उद्देश्य था——भारतमाता को पराधीनता के रावण के हाथों से स्वतंत्र कराना और हिन्दू धर्म की महिमा को सारे विश्व में प्रतिष्ठित करना। तभी तो श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्य नागमहाशय उन्हें साक्षात् महावीर कहकर सम्मानित किया करते थे।[३]

स्वामीजी ने पश्चिम की अपनी द्वितीय यात्रा का

---

२. विवेकानन्द साहित्य, खंड ६, पृष्ठ ८५, प्रकाशक—अद्वैत आश्रम, ५ दिही एण्टली रोड, कलकत्ता—१४।

३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृष्ठ १६०।

वृत्तान्त लिखा था। मद्रास से जब वे जहाज में बैठकर लंका की ओर चलते हैं, तो उन्हें हनुमानजी की स्मृति हो आती है, जिन्होंने युगों पूर्व इसी समुद्र को पार किया था। वे अपनी डायरी में लिखते हैं--"... उन्होंने सौ योजन समुद्र एक ही छलाँग में पार किया था और हम लोग काठ के कोठे में बन्द, उथल-पुथल करते हुए, थुन्नियाँ पकड़कर स्थिरता कायम करते हुए समुद्र पार करते हैं। लेकिन एक मर्दानगी जरूर है--उन्होंने लंका पहुँचकर राक्षस और राक्षसियों के चन्द्रानन देखे थे और हम लोग राक्षस-राक्षसियों के दल के साथ जा रहे हैं!"[४]

अमेरिका में रहते समय जब वे अपने पश्चिमी शिष्यों और मित्रों को भक्तियोग का उपदेश देते, तो इष्टनिष्ठा और एकाग्रता के आदर्श के रूप में वे बहुधा हनुमानजी का उदाहरण दिया करते। कुछ स्थल प्रस्तुत हैं--

भक्तश्रेष्ठ हनुमान से एक बार पूछा गया था--"आज महीने की कौन सी तिथि है?" उन्होंने उत्तर दिया था, "राम ही मेरे संवत्, तिथि आदि सब कुछ हैं। मैं और कोई तिथि नहीं जानता।"

इष्टनिष्ठा का भाव प्रकट करने के लिए एक अत्यन्त काव्यात्मक और सशक्त उदाहरण है, और इतनी सुन्दर उपमा शायद ही पहले कभी दी गयी है। साधक के लिए आरम्भिक दशा में यह एकनिष्ठा अत्यन्त आवश्यक है।

४. विवेकानन्द साहित्य, खंड ८, पृष्ठ १४७।

५. वही, खंड ७, पृष्ठ ३५।

हनुमानजी के समान उसे भी यह भाव रखना चाहिए-- "यद्यपि परमात्मदृष्टि से लक्ष्मीपति और सीतापति दोनों एक हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो वे ही कमललोचन श्रीराम हैं।"*[६]

अमेरिका के पैसाडेना नामक स्थान पर स्वामीजी ने 'रामायण' पर एक सुन्दर व्याख्यान दिया था, जिसमें वे हनुमानजी का वर्णन इस प्रकार करते हैं-- "दीर्घकाल तक वन वन भटकने के पश्चात् उनकी (भगवान् श्रीराम की) एक 'वानर-यूथ' से भेंट हुई। इन्हीं वानरों में देवांशसम्भूत हनुमान थे। कालान्तर में ये ही वानरश्रेष्ठ हनुमान राम के अनन्य सेवक बन गये और उन्होंने सीता के उद्धार में राम की विशेष सहायता की। राम के प्रति हनुमान की भक्ति एवं श्रद्धा इतनी अनन्य थी कि आज भी हिन्दू उन्हें परम गहन सेवा-धर्म के आदर्श और प्रभु के अप्रतिम सेवक की भाँति पूजते हैं।"[७]

एक बार स्वामीजी ने वार्तालाप के दौरान कहा था--"अनुमान करो कि कोई हनुमान की भक्तिभावना से ईश्वर की साधना कर रहा है और हनुमान का जैसा भगवान् पर भक्तिभाव था, वैसे ही भक्तिभाव को उसने ग्रहण किया है। जितना ही यह भाव गाढ़ा होगा, उस साधक की चाल-ढाल, यहाँ तक कि शरीर की गठन भी

---

[६]* श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वः रामः कमललोचनः॥

६. वही, खंड ४, पृष्ठ ३६-७।

७. वही, खण्ड ७, पृष्ठ १३९।

तद्रूप होती जायगी।"[८]

अमेरिका से लौटने के पश्चात् जब स्वामीजी रामेश्वरम् के रामनाद में थे, तब एक सम्भाषण के दौरान उन्होंने रामायण के पात्रों का एक रूपक प्रस्तुत किया था, जिसमें राम परमात्मा, सीता जीवात्मा और प्रत्येक स्त्री या पुरुष का शरीर लंका है। जीवात्मा जो कि शरीर में वद्ध है या लंकाद्वीप में बन्दी है, सदा श्रीराम से मिलना चाहती है। लेकिन राक्षस यह होने नहीं देते। विभीषण हैं सत्त्वगुण,; रावण रजोगुण; कुम्भकर्ण, तमोगुण। ये गुण शरीररूपी लंका में बन्दिनी सीता को यानी जीवात्मा को परमात्मा श्रीराम से मिलने नहीं देते। बन्दिनी सीता जब अपने स्वामी से मिलने के लिए आतुर होती हैं, तो उन्हें गुरुरूपी हनुमान मिलते हैं, जो ब्रह्मज्ञानरूपी मुद्रिका उन्हें दिखलाते हैं और उसको पाते ही सीता के सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सीता श्रीराम से मिलने का मार्ग पाती हैं, या दूसरे शब्दों में जीवात्मा परमात्मा से एकाकार हो जाती है।[९]

उपर्युक्त रूपक में स्वामीजी ने हनुमानजी को गुरु का उच्च आसन दिया है, जो जीवात्मा का परमात्मा से योग कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करते हैं।

युगों से भारतीय नसों में सत्त्वगुण प्रवाहित होता रहा था। किन्तु विगत कुछ शताब्दियों से विदेशियों की

---

८. वही, खण्ड ६, पृष्ठ २२।

९. वही, खण्ड १०, पृष्ठ २१८–९।

गुलामी में जीवन बिताते बिताते कालचक्र की अधोगति के कारण भारतीय जनजीवन घोर तमोगुण से आच्छन्न हो गया है। शारीरिक दुर्बलता और कर्म में अरुचि, यही तमोगुण का लक्षण है। कर्महीनता के कारण हमारी प्रगति के द्वार अवरुद्ध हैं। स्वामीजी कहते हैं, "अब देश को उठाने के लिए महावीर की पूजा चलानी होगी, शक्ति की पूजा चलानी होगी, श्रीरामचन्द्र की पूजा घर-घर में करनी होगी। तभी तुम्हारा और देश का कल्याण होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं।"[१०]

बेलुड़ मठ में उनके एक शिष्य श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने जब उनसे प्रश्न किया "हमारे लिए इस समय किस आदर्श को ग्रहण करना उचित है?"—तब उत्तर में स्वामीजी ने हनुमानजी के महान् चरित्र को अपनाने का जिन शब्दों में समर्थन किया, वे बड़े ही मर्मस्पर्शी हैं। उन्होंने कहा था, "महावीर के चरित्र को ही इस समय आदर्श मानना पड़ेगा। देखो न, वे राम की आज्ञा से समुद्र लाँघकर चले गये! जीवन-मृत्यु की परवाह कहाँ? महाजितेन्द्रिय, महाबुद्धिमान्, दास्य भाव के उस महान् आदर्श से तुम्हें अपना जीवन गठित करना होगा। वैसा करने पर दूसरे भावों का विकास स्वयं ही हो जायेगा। दुविधा छोड़कर गुरु की आज्ञा का पालन और ब्रह्मचर्य की रक्षा—यही है सफलता का रहस्य। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—अवलम्बन करने योग्य और

१०. वही, खंड ६, पृष्ठ १३८।

दूसरा पथ नहीं। एक ओर हनुमानजी के जैसा सेवाभाव और दूसरी ओर उसी प्रकार त्रैलोक्य को भयभीत कर देनेवाला सिंह जैसा विक्रम! राम के हित के लिए जीवन तक विसर्जित कर देने में कभी जरा भी संकोच नहीं किया। राम की सेवा के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के प्रति उपेक्षा, यहाँ तक कि ब्रह्मत्व, शिवत्व प्राप्ति के भी प्रति उपेक्षा। केवल रघुनाथ के उपदेश का पालन ही जीवन का एकमात्र व्रत—उसी प्रकार एकनिष्ठ होना चाहिए।"[११]

स्वामीजी के इन महान् शब्दों का प्रत्येक भारतवासी को, विशेषकर नवयुवको को, सदा स्मरण करना चाहिए और साथ ही इन शब्दों का भी—"महावीर का स्मरण किया कर, . . . देखेगा, सब दुर्बलता, सारी कापुरुषता उसी समय चली जायगी।"[१२]

लेखक का अपना विचार है कि प्रत्येक विद्यालय में हनुमानजी का एक मन्दिर और एक आधुनिक व्यायाम-शाला हो। सुदृढ़ शरीर का निर्माण भी शिक्षा का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाय। तभी श्री हनुमानजी द्वारा अपने जीवन से प्रदर्शित और प्रतिष्ठित ब्रह्मचर्य, बल, सेवा, त्याग, भक्ति, आज्ञापालन आदि आदर्शों का बाल एवं युवा-वर्ग में प्रचार होगा, और भारत अपने खोये हुए वैभव को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

---

११. वही, खंड ६, पृष्ठ १९६।*
१२. वही, खंड ६, पृष्ठ १९७।*

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

न्यूयार्क के अवस्थान-काल में

न्यूयार्क में स्वामीजी के स्वागत में उनके वहाँ क्षणिक अवस्थान-काल के बीच ही अनेक कार्यक्रम और भोज आयोजित हुए थे। इन आयोजनों की एक स्पष्ट झलक हमें श्रीमती कान्सटैन्स टाउन, जो उस समय कुमारी गिवन्स थीं, के संस्मरण में प्राप्त होती है। श्रीमती टाउन ने यह संस्मरण स्वामीजी से भेंट के लगभग चालीस वर्ष बाद लिखा था। उन्होंने सम्भवत: २९ अप्रैल, १८९४ को डा० गुर्नसी के घर आयोजित एक भोजसभा में स्वामीजी से पहली भेंट की थी। वे लिखती हैं--

"जब मैं उनसे मिली, उनकी अवस्था २७ वर्ष† की थी। वे मुझे प्राचीन ग्रीक देवता की मूर्ति के सदृश सुन्दर प्रतीत हुए। अवश्य उनकी चमड़ी काली थी और आँख वड़ी, जिन्हें देख मध्यरात्रि के नीलाभ की स्मृति जाग उठती थी।... उनका सिर घुँघराले बालों से वेष्टित था।

"हमारी मुलाकात वस्तुतः अनोखी थी। शिकागो में प्रसिद्धि प्राप्त होने के बाद उन पर न्यूयार्क से, जहाँ कि संसार के महान् व्यक्तियों की अभ्यर्थना की जाती है, अवश्य आमंत्रणों की वर्षा हुई थी। उस समय वहाँ एक सुप्रसिद्ध चिकित्सक डा० एगबर्ट गुर्नसी थे, जो उदार, साहित्यसेवी और आदर्श अतिथिपरायण थे। उनका विशाल

---

† वास्तव में उनकी अवस्था उस समय ३१ वर्ष की थी।

सुसज्जित घर पाँचवें एवेन्यू की चवालीसवीं स्ट्रीट में अवस्थित था। डा० गुर्नसी, उनकी आकर्षक पत्नी और पुत्री वाहर से पहुँचे सुप्रसिद्ध व्यक्तियों को न्यूयार्क सोसायटी के बीच परिचित कराने में हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे। अतः यह अपेक्षित था कि वे इन महान् संन्यासी को भी विशेष सम्मान प्रदान करते, जो धर्म और विश्वशान्ति के लिए पूर्व और पश्चिम को निकट लाने के पक्षपाती थे तथा जिनके इस आदर्श ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया था।

"डा० गुर्नसी ने तदनुसार रविवार को रात्रिभोज का आयोजन किया, जिसमें प्रत्येक अतिथि को अलग अलग धार्मिक मत का प्रतिनिधित्व करना था। रावर्ट इंगरसोल के नगर में अनुपस्थित रहने के कारण उन्होंने स्वयं उनका प्रतिनिधित्व किया।... मैं कैथोलिक थी।... उसी हैसियत से मुझे उस दिन के प्रख्यात रविवासरीय भोज में उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। डाक्टर गुर्नसी मेरे चिकित्सक थे और इसलिए उन्होंने मुझे कैथोलिक मत का प्रतिनिधित्व करने के लिए बुलवा भेजा था। वहाँ डाक्टर पार्कहर्स्ट थे और अमेरिका की सुप्रसिद्ध अभिनेत्री मिन्नी मैडर्न फिस्के, जो उस समय गुर्नसी परिवार के साथ रह रही थीं, वहाँ पर उपस्थित थीं। मुझे याद है, सव मिलाकर चौदह व्यक्ति खाने की मेज पर थे।

"पहले यह मूक समझौता अवश्य हुआ था कि सभी लोग स्वामीजी और उनके तथाकथित अ-ईसाई सिद्धान्त

से धार्मिक मेल न खाने पर भी सौहार्द्र का परिचय देंगे। किन्तु दुःख की बात, जैसा भोज आगे बढ़ा, आपस में गरमा-गरमी शुरू हो गयी। पर यह स्वामीजी के साथ नहीं, वरन् बाइबिल के ही अनुयायी विभिन्न सम्प्रदायवाले बन्धुओं के बीच। मैं स्वामीजी के बाजू में बैठी थी। हम दोनों चुपचाप इस हास्यास्पद साम्प्रदायिक असहिष्णुता का खेल देखते रहे। बीच बीच में हमारे गृहस्वामी कुशलता के साथ बुद्धिमत्तापूर्ण हास्योक्ति छोड़ देते, जिससे वार्तालाप का स्तर पाचन-क्रिया के लिए हानिकारक होने से बचा रहता! स्वामीजी बीच बीच में संक्षिप्त भाषण के सहारे ऊपरी तौर पर तो अपनी जन्मभूमि और उसके रीति-रिवाजों के बारे में समझाने का प्रयास करते, जो हमारे रीति-रिवाजों से सर्वथा भिन्न थे, पर उनका उद्देश्य होता——दार्शनिक और धार्मिक विषयों में हमेशा अपने मत की सर्वश्रेष्ठता प्रस्थापित करना।...हमारे बीच मित्रता का सूत्रपात इसी भोज-सभा में हुआ था। बाद में बैठकखाने में उन्होंने मुझसे कहा था, 'मिस गिबन्स, आपके और हमारे दार्शनिक सिद्धान्त एक ही हैं; धार्मिक विश्वासों की मूल बात भी एक ही है।'...

"डाक्टर गुर्नसी की डिनर-पार्टी से लौट मैंने स्वामीजी की चर्चा अपनी माँ से की और उन्हें बताया कि उनका मस्तिष्क कैसा अद्भुत है तथा किस अदम्य शक्ति से उन्होंने हमें प्रभावित किया है। सुनकर माँ बोलीं, 'यह कैसी भयानक पार्टी थी, जिसमें मैथाडिस्ट,

बैपटिस्ट और प्रिसबिटेरियन सभी थे और उनके बीच नारंगी पोशाकधारी कृष्णवर्णीय विधर्मी !' पर बाद में वे विवेकानन्द को चाहने लगी थीं तथा उनके विचारों का सम्मान करने लगी थीं। कालान्तर में तो वे 'वेदान्त सेण्टर' की सदस्या भी बनी थीं। स्वामीजी को माँ अत्यन्त मजेदार प्रतीत हुई थीं। अपने बारे में माँ के विचार सुनकर वे किस प्रकार हँसते हँसते बेहाल हो जाते थे, यह दृश्य आज इतने वर्षों बाद भी मेरे सामने साकार हो उठता है।"

१८९४ के वसन्तकाल के बाद की घटना होगी, एक दिन कुमारी गिवन्स ने स्वामीजी को 'मेट्रोपालिटन आपेरा' में 'फास्ट' का नाटक देखने के लिए आमन्त्रित किया। उन दिनों आपेरा जाना सोसायटी के फ़ैशन में गिना जाता था। लोग आपेरा देखते कम थे, अपने आप का प्रदर्शन अधिक करते थे। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित महिलाएँ जान-बूझकर कार्यक्रम प्रारम्भ होने के बाद पहुँचतीं, ताकि वे लोगों की दृष्टि में पड़ सकें। स्वामीजी ने इसके पूर्व कभी आपेरा नहीं देखा था। अतः जब कुमारी गिवन्स ने उनसे प्रार्थना की, तो उन्होंने हामी भर दी। पर कु० गिवन्स की माता आपत्ति के स्वर में बोल उठीं, "पर आप तो काले हैं ! संसार क्या कहेगा ?" यह सुन वे हँसे और बोले, "मैं अपनी बहिन की बगल में बैठूँगा। और मुझे मालूम है वह कुछ सोचेगी नहीं !"

कुमारी गिवन्स लिखती हैं——उस दिन वे इतने सुन्दर दीख रहे थे कि वैसा मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। हमारे आस-

पास के लोग उनके प्रति इतने आकृष्ट हो गये थे कि मुझे लगता है उन लोगों ने उस रात आपेरा सुना तक नहीं।

मैंने 'फास्ट' की कहानी विवेकानन्द को समझाने का प्रयास किया। सुनते ही माँ बोल उठीं, 'हे भगवान्! तुम जैसी युवती लड़की को ऐसी भयानक कहानी एक पुरुष को नहीं सुनानी चाहिए।'

स्वामीजी ने कहा, 'यदि यह अच्छा नहीं है, तो आप उसे यहाँ आने को ही क्यों कहती हैं ?'

माँ ने उत्तर दिया, 'देखिए, आपेरा देखने जाना एक सामाजिक प्रथा है। सारे के सारे नाटक खराब होते हैं। पर उनकी चर्चा करना उचित नहीं।'

...आपेरा के बीच स्वामीजी ने कहा, 'अच्छा बहिन, यह व्यक्ति जो गाना गाकर सुन्दरी महिला से प्रेम जता रहा है, क्या वह सचमुच में उसे प्यार करता है ?'

'हाँ, स्वामीजी।'

'किन्तु उस व्यक्ति ने तो महिला के प्रति अन्याय किया है और उसे दुखी बना दिया है।'

मैंने विनम्रता से उत्तर दिया— 'हाँ।'

स्वामीजी ने तब कहा, 'हाँ, अब मैं समझ गया। वह उस सुन्दरी रमणी से प्रेम नहीं करता, वह तो उस लाल वस्त्रधारी पूँछवाले सुन्दर व्यक्ति के प्रेम में डूबा है—जिसे कहते क्या हैं ?—शैतान।' इस प्रकार उनके पवित्र मन ने विवेक-विचार के द्वारा तौल करके यह देखा और जान लिया था कि आपेरा और उसके श्रोता सभी थोथे हैं।

समाज में लोकप्रिय एक अल्पवयस्का युवती नाटक के बीच आकर माँ से बोली, 'ये नारंगी गाउन में सुसज्जित भव्याकृतिवाले जो सज्जन हैं, उनका परिचय प्राप्त करने के लिए मेरी माँ अत्यधिक उत्सुक हो रही हैं।'

न्यूयार्क के फिफ्थ एवेन्यू में निवास करते समय स्वामीजी ने जनसाधारण को विशेष रूप से आकर्षित किया था। समाज के अनेक विचारशील, लब्धप्रतिष्ठ लोगों पर उनकी अमिट छाप पड़ी थी। जो भी उनसे मिलता, भले ही वह अल्प समय के लिए हो, उन्हें भूल नहीं पाता था। कइयों ने अपने आत्म-चरितों अथवा संस्मरणों में उनका उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध महिला कवि हेरियट मनरो द्वारा अपनी आत्म-जीवनी में वर्णित निम्न उद्धरण इसका एक प्रमाण है। श्रीमती मनरो लिखती हैं—

"वाद में (शिकागो धर्ममहासभा के पश्चात्) मैं उनसे घनिष्ठ रूप से परिचित हुई। कई वर्षों पश्चात् उनसे फिफ्थ एवन्यू में हुई भेंट और वातचीत मुझे चिर-काल के लिए स्मरण रहेगी। उन्होंने कुछ कहा था और उनकी दृष्टि उस समय गगनचुम्बी इमारत के शीर्ष पर जा टिकी थी। उससे मुझे ऐसा लगा था कि यह सव नवीनता उनके लिए उतनी ही रोमांचकारी है, जितनी कि पुरातन वस्तुएँ हमारे लिए। मुझे यह भी लगा कि उनकी अवलोकन-शक्ति ने हमारे नव उत्साह एवं स्फूर्ति पर अपनी एक अधिक संघटित एवं गौरवशाली संसार की आशा का भार न्यस्त किया है।"

"जहाँ कहीं भी स्वामीजी मनुष्य में प्राणवत्ता और सृजनशक्ति की अभिव्यक्ति पाते थे," श्रीमती बर्क 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं, "वहाँ वे जगन्माता की ही प्राणवत्ता और सृजनशक्ति के दर्शन करते थे। शक्ति चाहे जिस रूप में हो, मानो उनसे एक गहरे स्तर पर कह उठता थी कि जो मानवीय ऊर्जा गगनचुम्बी अट्टालिका के रूप में प्रकट हुई है, वह उस दैवी ऊर्जा से भिन्न नहीं है, जो विश्व का पालन और संचालन कर रही है। यह वही उर्जा एवं शक्ति थी, जिसके कि वे स्वयं जीवन्त विग्रह थे।"

स्वामीजी से हुई एक भेंट का उल्लेख उस समय की ख्यातनामा शिल्पी श्रीमती मालविना हाफमैन ने अपनी पुस्तक 'हेड्स एण्ड टेल्स' में किया है। वे लिखती हैं-- "भारत ने मेरे शैशव की एक स्पष्ट स्मृति को जगा दिया। वह एक उद्दीपक सन्ध्या थी, जिसे मैंने अपने पिता के एक सम्बन्धी के यहाँ व्यतीत किया। वे पश्चिम ३८ वीं स्ट्रीट के एक साधारण से बोर्डिंग हाउस में रहते थे। पुराने फैशन के इन शहरियों के बीच सहसा एक आगन्तुक का परिचय कराया गया। वे प्राच्य दार्शनिक और आचार्य स्वामी विवेकानन्द थे। जैसे ही उन्होंने भोजन-कक्ष में प्रवेश किया कि नीरवता छा गयी। उनके चेहरे और हाथोंका श्याम कांस्य वर्ण उनकी हल्की तहदार विशाल पगड़ी और वेश-विन्यास के साथ एक सहज असामंजस्य का बोध करा रहा था।

"उनकी गहरी आँखें कदाचित् ही आसपास के लोगों को देखने के लिए उठीं। पर उनमें कुछ ऐसी शान्ति और शक्ति

की छाप थी कि मुझ पर उनका अमिट प्रभाव पड़ा। वे मुझे ब्रह्म के यथार्थ आचार्यों की रहस्यमयता और आध्यात्मिक निस्संगता के जीवन्त विग्रह प्रतीत हुए। साथ ही उनका सभी के प्रति भाव सरलता से भरा, दया और कोमलता का था।

"वहुत वर्षों बाद हमने सन् १९३१ में कलकत्ते के बाहर बेलुड़ मठ में बने उस संगमर्मर के मन्दिर का दर्शन किया, जिसे उनके हजारों भक्तों ने उनकी स्मृति में समर्पित किया था। मैंने मालती की माला उनकी वेदी पर चढ़ायी और मैं उस अवसर का स्मरण कर भाव-विभोर हो गयी, जब मैंने मात्र एक बार ही इस सन्त के दर्शन किये थे। तब उन्होंने मेरे समक्ष बिना एक शब्द कहे भारत के वास्तविक मर्म का जैसा उद्घाटन किया था, वैसा मुझे आज तक भारत के सम्बन्ध में सुनी अथवा भारतीयों द्वारा दी गयी ढेर सी वक्तृताओं में प्राप्त नहीं हुआ।"

स्वामीजी का आकर्षण ही कुछ ऐसा था कि संशयी और अश्रद्धालु व्यक्ति भी उनके प्रभाव से अछूते नहीं रह पाते थे। लब्धप्रतिष्ठ वायलिन-वादक अल्बर्ट स्पाल्डिग अपनी आत्मकथा 'राइज टू फालो' में अपनी बाल्यकाल की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखते हैं––

"एक बार एक भारतीय संन्यासी भोजन के लिए पधारे। वे और कोई नहीं, सुप्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द ही थे। सैली मौसी उनके प्रति आकृष्ट अवश्य हुईं, पर वे उनमें आध्यात्मिकता की वह ऊँचाई कभी नहीं देख पायीं, जिसका दावा स्वामीजी के प्रशंसकों का विशाल समूह

करता था। जब वे चारों ओर से उनके प्रति प्रशंसा की बौछारें सुनतीं, तो उसे चुटकियों में उड़ा देतीं। स्वामीजी के कठोरतापूर्ण तपस्वी जीवन की बातें सुन वे कहतीं, 'क्या कहने हैं तपस्वी जीवन के! मैं तुम लोगों से साफ कहे देती हूँ—ये महाशय भारतवासी हों या अन्य देश-वासी, पादरी हों या अन्य कुछ, ऐसा विराट् शरीर इन्होंने जंगली फूल चूसकर नहीं पाया है!'

"'किन्तु संली मौसी! आप तो खुद जानती हैं कि आप इन्हें पसन्द करती हैं। और आपने अपने व्यवहार के द्वारा भी यही दर्शाया है।'

"'मैं उन्हें पसन्द अवश्य करती हूँ; मैं तो और भी बहुत से लोगों को पसन्द करती हूँ,' मौसी बोल उठीं, 'पर इसका यह तो मतलब नहीं कि मुझे उन सबको नाजरथनिवासी ईसा मसीह मानना पड़ेगा!' पर जब मौसी को लगता कि उनकी धर्म-निन्दा सीमा का अति-क्रमण करना चाहती है, तो वे मन ही मन बिखरती हँसी को रोक साँस साध लेतीं। शाम की पार्टियाँ प्रायः संगीत-मय होती थीं। यहाँ तक कि स्वामीजी भी उससे बच नहीं पाते थे। पर मेरी माँ का अधैर्य संगीत को अधिक देर तक चलने से रोक लेता था।"

(क्रमशः)

*

दो प्रेरक प्रसंग

एक समय एक भक्त बेलुड़ मठ में चढ़ाने के लिए नागलिंगम फूलों का एक बड़ा टोकरा ले आया। एक शिष्य यह सोचकर कि ये फूल स्वामी ब्रह्मानन्दजी को बड़े प्रिय हैं, उनके कमरे को उन फूलों से सजाने लगा। इतने में ब्रह्मानन्दजी कमरे में आये और शिष्य को वैसा करते देख उन्होंने उससे पूछा, "ठाकुर की पूजा के लिए तुमने कुछ फूल अलग से बचा लिये हैं तो ?" "नहीं, महाराज !" शिष्य बोला और मन में विचार करने लगा, "अच्छा, मन्दिर में जो ठाकुरजी हैं, वह तो केवल एक चित्र है; और गुरु तो वस्तुत: जीवन्त ईश्वर हैं।" स्वामी ब्रह्मानन्द जी शिष्य के विचारों को भाँप गये; बोले, "क्या तुम सोचते हो कि मन्दिर में जिसकी पूजा होती है, वह मात्र एक चित्र है ?" शिष्य कुछ घबड़ाये स्वर में बोला, "जी हाँ, महाराज !" महाराज ने फिर पूछा, "क्या तुमने कभी आनुष्ठानिक रूप से पूजा की है ?"

"जी नहीं, महाराज !"

"क्यों नहीं की ?" महाराज ने पूछा।

"मुझे क्रिया-अनुष्ठान में श्रद्धा नहीं है," शिष्य ने उत्तर दिया।

तब स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने शिष्य को आनुष्ठानिक पूजा का उपदेश दिया और कहा, "मैं तुमसे कहता हूँ कि अब तुम अनुष्ठानपूर्वक पूजा करो। करोगे ?"

"जी हाँ, महाराज ! मैं करूँगा," शिष्य ने वचन देते हुए कहा।

शिष्य ने निष्ठापूर्वक गुरु के निर्देशों का पालन किया और तीसरे ही दिन वह न केवल बाह्य पूजा के प्रभाव के सम्बन्ध में आश्वस्त हुआ, प्रत्युत उसे यह भी विश्वास हो गया कि भगवान् भक्तों द्वारा निवेदित वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। उसे अपने गुरु के वचनों का स्मरण हो आया, साथ ही गीता में आये भगवान् कृष्ण के कथन का भी कि--

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः ॥९/२६॥

--'जो भी मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल समर्पित करता है, शुद्ध अन्तःकरणवाले उस भक्त द्वारा भक्तिपूर्वक अर्पित किये गये उस पदार्थ को मैं ग्रहण करता हूँ।'

० ० ०

सन् १९१५ के प्रारम्भ में स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने बेलुड़ मठ में तरुणों के एक दल को ब्रह्मचर्य में दीक्षित किया। उस दल में चौबीस युवक थे और उनमें अधिकांश विश्वविद्यालय के उपाधिधारी थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी और स्वामी प्रेमानन्दजी दोनों इस बात के लिए उत्सुक थे कि लड़कों का आध्यात्मिक कल्याण हो और वे संन्यास-जीवन के उपयुक्त बन सकें।

कुछ समय बाद उस दल के दो लड़कों में किसी कारणवश मनमुटाव हो गया। स्वामी प्रेमानन्दजी चिन्तित हो उठे। वे स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास गये और बोले,

"महाराज ! हम सब गुरुभाई इतनें वर्षों से एक साथ रहे; हममें सदैव शान्ति रही, सामंजस्य रहा; कभी हम लोग आपस में न तो लड़े, न झगड़े, और न कभी किसी ने दूसरे को कोई कड़ी बात ही कही। अब हमें क्या करना चाहिए ? कुछ समय से मैं इन दो लड़कों में मनमुटाव देख रहा हूँ और आज तो दोनों में हाथापाई भी हो गयी ! ऐसी बात तो यहाँ चल नहीं सकती। तो फिर दोनों को निकाल न दें ?"

स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने शान्त स्वर में कहा, "मैं जानता हूँ कि यह कठिनाई है। पर भाई, देखो हम यह भी जानते हैं कि उन्होंने यहाँ आकर श्रीरामकृष्णदेव के श्रीचरणों में शरण ली है। वे तुम्हारी ओर मार्गदर्शन और निर्देश के लिए ताकते हैं। तुम अवश्य ऐसा कुछ कर सकते हो, जिससे उनका जीवन बदल जाय और उनके हृदय में प्रेम की लहर उठने लगे।"

प्रेमानन्दजी ने उत्तर दिया, "हाँ महाराज! आप ठीक कहते हैं। उन्होंने यहाँ आश्रय लिया है; पर भाई, वह तो आपको ही उन्हें आशीर्वाद देकर उनकी सहायता करनी चाहिए।"

इस विचार के उठते ही स्वामी प्रेमानन्दजी वहाँ से गये और उन्होंने सारे संन्यासियों और ब्रह्मचारियों को इकट्ठा किया तथा उन सबको वे एक पंक्ति में स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पास ले गये। उन्होंने हाथ जोड़कर ब्रह्मानन्दजी को प्रणाम किया और सबको आशीर्वाद देने की

प्रार्थना की ।

उनके ऐसा कहते ही ब्रह्मानन्दजी को भावावेश हो आया। उनकी आँखें अन्तर्मुखी हो गयीं और उनकी अवस्था गहरे ध्यान में डूबे की सी हो गयी । उनका दाहिना हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में ऊपर उठ गया ।

उनके इस भावान्तर को देख स्वामी प्रेमानन्दजी ने अन्य एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी शुद्धानन्द से स्वामी ब्रह्मानन्दजी को साष्टांग दण्डवत कर उनका आशीर्वाद लेने के लिए कहा । प्रत्येक संन्यासी और ब्रह्मचारी ने शुद्धानन्दजी का अनुसरण किया। ज्यों ज्यों एक एक करके वे लोग ब्रह्मानन्दजी को प्रणाम करते गये, वे अपने दाहिने हाथ से सबके मस्तक का स्पर्श करते गये, और प्रत्येक के लिए--हर व्यक्ति अपनी ही बात बता सकता था--वह स्पर्श तापतप्त शरीर के लिए निर्झर के शीत जल के समान था। वह एक अन्तर की अनुभूति थी, जिसे कभी वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

इस स्मरणीय घटना के बाद सारी कठिनाइयाँ दूर हो गयीं; शान्ति का साम्राज्य लौट आया और सबके हृदय में प्रेम की तरगें हिलोरें लेने लगीं ।

आध्यात्मिक सूक्तियाँ

स्वामी शिवानन्द

स्थायी शान्ति के लिए एकमात्र उपाय है ईश्वर की इच्छा पर सम्पूर्ण समर्पण। चंचलता मन की सारी शान्ति को हर लेती है। जब मन चंचल हो जाए, तो ईश्वर से व्याकुल होकर प्रार्थना करनी चाहिए, क्योंकि वे ही शान्ति के एकमात्र निधान हैं।

ईश्वर का सतत स्मरण जीवन में आनन्द का प्रवाह बहा देगा।

मानव-जीवन का एकमात्र यथार्थ उद्देश्य है सत्य-स्वरूप की खोज करना। सत्यस्वरूप को जानने के लिए हमें ध्यान अवश्य करना चाहिए। अतः साधक को चाहिए कि वह ध्यान के अभ्यास को अपना नियमित स्वभाव बना ले। साधनाओं के लिए ब्राह्ममुहूर्त सर्वश्रेष्ठ समय है। अन्तर्मुखीनता के अभ्यास के लिए दिन या रात्रि के अन्य किसी समय की अपेक्षा सूर्योदय के पूर्व की पुनीत घड़ियाँ अधिक श्रेयस्कर हैं।

संसार के दुःख-कष्ट परोक्ष रूप से मन को ईश्वर की ओर उन्मुख करते हैं। संसार में तुम्हें जितना ही कष्ट और पीड़ा मिलेगी, तुम उतना ही ईश्वर का चिन्तन करोगे; और यह तुम निश्चित रूप से जान लो कि ईश्वर का प्रेमपूर्ण स्मरण संसार के प्रति हमारी समस्त आसक्तियों को काट देता है।

जब तक मनुष्य भौतिक विषयों और उपलब्धियों से सन्तुष्ट है, तब तक वह अध्यात्म के पथ पर नहीं बढ़

सकता। पर जब ईश्वर से बिछोह का भाव मन को सालने लगता है, तो ईश्वर-दर्शन का क्षण समीप समझना चाहिए।

सच्चा भक्त ईश्वर से उनके प्रति शुद्धा भक्ति छोड़ और कुछ नहीं मांगता। जैसे एक शिशु अपनी माँ पर पूरी तरह निर्भर रहता है, वैसे ही भक्त ईश्वर पर सम्पूर्णतः निर्भर रहता है।

ईश्वर रूपवान् भी हैं और अरूप भी; फिर, वे दोनों से परे भी हैं। वे हमारी समस्त धारणाओं से परे हैं। उनके विभिन्न पहलुओं में से किसी एक को लेकर उनका ध्यान किया जा सकता है।

जब मन कभी नीरसता के भाव से भर जाय, तो साधक को उस समय शास्त्र-अध्ययन, भगवन्नाम का जप, प्रार्थना और सत्संग करना चाहिए। पर पवित्रता और साक्षात्कार के साधनों में ध्यान सर्वोत्कृष्ट है। ईश्वर का सतत स्मरण हमें 'पूर्ण' बना देता है।

अपने हृदय में त्याग की अग्नि प्रज्वलित करो, प्रभु-प्रेम के सागर में गहरा गोता लगाओ, तभी आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हो सकेंगे।

जब तुम ईश्वर को अपने हृदय-मन्दिर में बिठाने में सफल होगे, तब तुम सर्वत्र उनके दर्शन कर सकोगे।

सब कुछ ईश्वर की कृपा पर निर्भर है——यहाँ तक कि साधना की इच्छा भी। अन्त में उनके दर्शन भी उन्हीं की कृपा के फलस्वरूप होते हैं।

प्रश्न—अगर भगवान् अत्यन्त दयालु और भक्तवत्सल हैं, तो उन्होंने ऐसी सृष्टि की रचना क्यों की, जहाँ प्रत्येक जीव कुछ न कुछ क्लेश से पीड़ित और दुःखी है ? वे ऐसी भी सृष्टि की रचना कर सकते थे, जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हों।

—दुर्गाशरण, भिलाई

उत्तर—अच्छा, हम ऐसी सृष्टि की कल्पना करें, जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हैं। ऐसी सृष्टि क्या टिक सकती है ? जहाँ वैचित्र्य नहीं, वहाँ नीरसता रहती है और नीरसता में प्राणों का स्पन्दन भी थम जाता है। यदि सभी सुखी हुए, तो कर्म-प्रेरणा भी नहीं रहेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ एक प्रकार की जड़ता, शून्यता रहेगी। यदि सभी मनुष्यों के विचार एक समान हों, तो वहाँ क्या जीवन रह सकता है ? मनुष्य की हर क्रिया के पीछे अभाव की प्रेरणा होती है। यदि मनुष्य पूर्ण हो, तो वह कर्म करे ही क्यों ? कुछ चाह हो, कुछ माँग हो, तभी वह क्रिया करता है। अतः यदि भगवान् की सृष्टि में सभी सदाचारी और सुखी हों, तो भगवान् की दयालुता का कोई अर्थ नहीं, उसकी भक्तवत्सलता भी किसी काम की नहीं। गतिशीलता ही जीवन का लक्षण है और यह गतिशीलता विविधता से उत्पन्न होती है। ऐसी सृष्टि की कल्पना जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हैं, एक

मनहूसियत की कल्पना है। ईश्वर ऐसा मनहूस नहीं है। इसीलिए उसने इस वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि को उपजाकर उसमें कर्म-स्फूर्ति भर दी। इस कर्मस्फूर्ति से ही जीव कर्म करते हैं और सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं। यदि जीवन में दुःख न हों, तो सुख की कल्पना भी नहीं बन सकती। जीव जब क्लेश से पीड़ित होता है, तभी उसे अपनी असहायता का अनुभव होता है और वह ऐसे किसी सामर्थ्यवान् की कल्पना करता है, जो उसे इस पीड़ा से बचा ले। ईशन--शासन--करनेवाले ईश्वर की कल्पना जीव के मन में इसी प्रकार रूप लेती है। वह उसे दयालु और करुणामय के विशेषण लगाता है और धीरे धीरे ऐसा अनुभव करता है कि उसको दया और करुणा प्राप्त करने के लिए उसके बनाये सब जीवों के प्रति उसे समता का व्यवहार करना चाहिए। यही 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'--सर्वभूतों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करने की अवस्था है। यही सदाचार है। अपने ही स्वार्थ के लिए आचरण करना सदाचार नहीं। दूसरों की पीड़ा से पीड़ित होना और उसे दूर करने का यत्न करना सदाचार है। तभी उसके मन में ऐसा तर्क जागता है कि यदि हम दूसरे के दुःख में दुःखी होकर उसके दुःख का लाघव करने गये, तो वह ईश्वर भी हमारी ओर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि फेरेगा। इससे सेवा की भावना उपजती है।

वस्तुतः ईश्वर जीवों को दुःखी नहीं बनाता। उसने संसार में सुख और दुःख ये दो तत्त्व बना दिये। जीव अपने कर्म से सुखी या दुःखी होता है। दुःख का निर्माण करना आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना न तो सुख का कोई अर्थ होता, न संसार का।

अब यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि ईश्वर ने ऐसा किया ही क्यों, उसने जीव क्यों बनाये, संसार क्यों उपजाया ?--तो इसका यह छोड़ कोई उत्तर नहीं कि यह सब उसकी लीला है !

●

आश्रम समाचार

अकाल सेवा कार्य

(१५ जुलाई, १९७५ तक की रिपोर्ट)

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंक में हमने यह सूचित किया था कि आश्रम द्वारा दुर्ग जिले के पाटन विकासखण्ड में तथा महासमुन्द तहसील में चलाये जानेवाले राहत कार्य तीव्र गति से चल रहे हैं। आश्रम ने सक्षम मजदूरों को काम देने के लिए जो ८ तालाबों का निर्माण अपने हाथ में लिया था, उनमें ७ तालाबों का काम पूरा हो चुका है। केवल एक तालाब अधूरा रह गया, जिसे बरसात के बाद पूरा किया जायगा। इन तालाबों के निर्माण ने भूखे और काम-काजहीन ३,२०० मजदूरों को साढ़े तीन महीने तक काम दिया है और इस प्रकार भुखमरी से उनकी रक्षा की है। केवल यही नहीं, इन तालाबों ने निस्तार की सुविधा तो की ही है, साथ ही सिंचाई-क्षमता में भी लगभग ८६० एकड़ की वृद्धि की है। आश्रम ने यह संकल्प लिया था कि उसके इन राहत कार्यों ने अत्यन्त सूखाग्रस्त जिन १४२ गाँवों को अपनी सेवा के घेरे में लिया, वहाँ किसी को भुखमरी का शिकार नहीं होने दिया जायगा, और श्रीभगवान् ने हमारे इस संकल्प की रक्षा की। कार्यक्षम मजदूरों को काम दिया गया और अपंगों एवं निराश्रितों को भोजन। अब सूखे के शिकार छोटे छोटे किसानों को, जिन्हें कहीं से भी बीज उपलब्ध नहीं हो रहा है, आश्रम द्वारा बोने के लिए बीज दिये जा रहे हैं। हमने ५० हजार रुपये के बीज बाँटने का प्रावधान रखा है, जो जुलाई, १९७५ के अन्त तक सम्पन्न हो जायगा।

इस प्रकार आश्रम ने ८ अक्तूबर, १९७४ से प्रारम्भ हुए अपने इन राहत कार्यों पर लगभग ६ लाख ६२ हजार ५०० रुपये की राशि खर्च की है, जिनका लाभ १,६४,९०० अकाल-पीड़ितों को मिला है।

इस बीच 'कैथोलिक रिलीफ सर्विसेज़,' नयी दिल्ली ने हमें अपनी सहायता की दूसरी और समापन किस्त २८०००) नगद के रूप में भेजी है, जिससे उनका कुल दान ४८०००) का हो गया।

हम इस अवसर पर अपने समस्त दानदाताओं और सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिनके सहयोग से यह विराट् पुनीत यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो सका।

★

सब प्रकार की नीति, शुभ तथा मंगल का मूलमन्त्र 'मैं' नहीं, 'तुम' है। कौन सोचता है कि स्वर्ग और नरक हैं या नहीं? कौन सोचता है कि मेरी आत्मा है या नहीं? कौन सोचता है कि कोई अनश्वर सत्ता है या नहीं? हमारे सामने यह सारा संसार है, जो महादुःख से परिपूर्ण है। बुद्ध के समान इस संसार-सागर में गोता लगाकर या तो इस संसार के दुःख को दूर करो या इस प्रयत्न में प्राण त्याग दो। अपने को भूल जाओ; आस्तिक हो या नास्तिक, अज्ञेयवादी हो या वेदान्ती, ईसाई हो या मुसलमान—प्रत्येक के लिए यही सबसे पहला पाठ है।

—स्वामी विवेकानन्द

Registered with the Registrar of Newspapers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

संसार में यदि नहीं रहोगे, तो कहाँ जाओगे ? मैं तो देख हूँ, जहाँ भी हूँ, राम की अयोध्या में हूँ। यह विश्व-संसार रा की अयोध्या है। रामचन्द्र ने गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् कहा – मैं संसार का त्याग करूँगा। दशरथ ने उन्हें समझाने के लिए वसिष्ठ को भेजा। वसिष्ठ ने देखा, राम में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ है। बोले, "राम! पहले तुम मेरे साथ तर्क करो फिर संसार का त्याग करना। अच्छा, बताओ, संसार क्या ईश्वर से अलग है ? यदि हो, तो तुम छोड़ सकते हो।" राम ने देखा – ईश्वर ही जीव और जगत् सब कुछ हुए हैं। उन्हीं की सत्ता के कारण सब कुछ सत्य प्रतीत हो रहा है। तब रामचन्द्र मौन रह गये।

संसार में काम-क्रोध इन सब रिपुओं के साथ युद्ध करना पड़ता है। अनेकविध वासनाओं के साथ, आसक्ति के साथ लड़ाई करनी पड़ती है। किला में रहकर युद्ध करना ही अधिक सुविधाजनक होता है! घर में रहकर युद्ध ही अच्छा – खाना मिलता है, धर्मपत्नी कई प्रकार से सहायता कर सकती है! कलिकाल में प्राण अन्नगत होते हैं। अन्न के लिए दस जगह घूमने के बदले एक जगह में रहना ही अच्छा। घर में रहना माने किला के भीतर रहकर युद्ध करना।

और संसार में रहो आँधी में जूठी पत्तल के समान। आँधी कभी जूठी पत्तल को घर के भीतर ले जाती है, तो कभी कूड़े के ढेर पर। उसी प्रकार सब कुछ उन्हें समर्पित कर दो। सब कुछ रामजी की इच्छा देखो।

— २६ अक्तूबर, १८८

COVER PRINTED AT :- SHIVRAJ LITHO NAGPUR